

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180758

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP—391 29-4-72—10,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. ^H83

Accession No. ^H2634

Author K458

Title

This book should be returned on or before the date last marked below.

खांडेकर साहित्य : ६

आत्माराम एन्ड संस
प्रकाशक तथा पुस्तक-पित्रीता
काश्मीरी गेट, दिल्ली-६

सूना मन्दिर

वि. स. खांडेकर

मूल्य चार रुपये

प्रकाशक
रा. ज. देशमुख
देशमुख आणि कंपनी
२२ कसबा, पूना २

● ● ●

अनुवादक
अुपाध्याय
और
माणिकलाल परदेशी

● ● ●

सत्र हक़ स्वाधीन

● ● ●

मुखपृष्ठ
दलाल आर्ट स्टूडिओ
बम्बयी

● ● ●

मुद्रक
र. भ. निगुडकर
प्रकाश मुद्रणालय
३९५/४ सदाशिव, पूना २

● ● ●



मराठी

प्रथम संस्करण १९३९
द्वितीय संस्करण १९४५

गुजराती

प्रथम संस्करण १९४८
द्वितीय संस्करण १९५६

तमिल

प्रथम संस्करण १९४२
द्वितीय संस्करण १९४५
तृतीय संस्करण १९५२

हिंदी

प्रथम संस्करण १९५६

मल्यालम

प्रथम संस्करण करीब करीब
आठ साल पहले प्रकाशित
हुआ ।

अिसी अुपन्यास पर
मल्यालम में नाटक भी
प्रकाशित हुआ है ।



चिरंजीविनी
मंदाकिनी की
बाललीलाओं को



देवता और देहरा

कितनी मोहक मूर्ति थी वह !

अतनी सुंदर मूर्ति को कहाँ रखें ! भक्तों के सामने यह बड़ी ही जटिल समस्या थी । मूर्ति ने कहा - ' मेरे लिये तो भक्त का हृदय ही स्वर्ग है । '

किन्तु हृदय में स्थित मूर्ति का दर्शन नेत्र कैसे कर पायेंगे ! समस्त भक्तों ने निश्चय किया कि मूर्ति के लिये एक अनुपम सुंदर देहरा बनाया जाय । कोअी चंदन के काष्ठ ले आया; किसी ने अुस पर नयनमनोहर नक्काशी खोदी । स्वर्ग का अलौकिक सौंदर्य अुस देहरे में संपूर्ण रूप से अवतीर्ण हो गया ।

देहरे में स्थापित अुस मूर्ति की नित्य अर्चना होने लगी । देहरे की सुंदरता को वृद्धिगत करने के लिये मनोरम पुष्पों का चयन करने में भक्तों में प्रतिस्पर्धा होने लगी; अुसको श्री वृद्धि में सहायक धूप, दीप, नैवेद्य आदि पूजन की सामग्री संचित करने में प्रत्येक भक्त लीन हो गया ।

महोत्सव का पर्व आया ! देहरा फूलों से ढँक गया । धूप समर्पण के कारण चारों ओर अनगिनत, अदृश्य, सुगंधित पुष्प खिल अुठे । दीप-शिखाओं तारकाओं से स्पर्धा करने लगीं । पूजन-समाप्ति के अनन्तर, प्रसन्न चित्तसे भक्तजन घर लौटने लगा । लौटते हुअे सब ने अनुभव किया कि अुनका पैर रास्ते में पड़ी किसी चीज़ से टकरा रहा है । हर अेक ने नीचे झुककर गौर से देखा

कुछ समय पहले देहरे में प्रस्थापित मूर्ति थी वह ! न जाने किसने और कव अुसे देहरे से निकाल कर बाहर फेंक दिया था । भक्तों में से कोअी भी अुसे पहचान न पाया । अुसे पैरोंतले रौंदकर प्रत्येक भक्त आगे बढ़ गया ।

१

अ शो क

‘ साहब, ’

चौक कर मैंने पीछे देखा । चंदू की ओर मेरी निगाह गयी और साथ ही साथ घड़ी की ओर भी । ग्यारह बजकर बीस मिनट । ओफ ! लगभग एक घंटे से इस खिड़की में मैं खड़ा हूँ । बाहर शरद की स्निग्ध चांदनी खिल जाने पर किसी कवि की इस तरह तंद्रा लग जाती तो किसी को विस्मय न होता । लेकिन चांद अभी कुछ ही समय पहले डूबा हुआ है, बाहर अंधेरा फैला हुआ है और मैं हूँ मनोविज्ञान का एक प्रोफेसर । जिंदगी में मैंने अब तक कभी कविता की एक पंक्ति तक नहीं लिखी किसी मित्र के ब्याह के अवसर पर गाये जानेवाले मंगल गीतों की रचना भी नहीं की ।...

और शायद इसी बात पर चंदू दिल ही दिल में हैरान हो रहा होगा । इस समस्या ने उसे अलुझन में डाल दिया होगा कि उसका मालिक घंटो, अंधेरे में गुमसुम खड़ा कर क्या रहा है !

चंदू की ओर देखते ही मेरी नजर ओवलटीन की प्याली पर पड़ी । कुछ समय पहले वह मेज़ पर ओवलटीन रख गया था । किन्तु अंधेरे में झिल-

मिलाने वाले तारों की ओर देखते हुआ, मैं विचारों में अिस तरह खो गया था कि ...

कुछ झेंपकर, ओवलटीन की प्याली उठाने के लिये मैं हाथ बढ़ा ही रहा था कि चंदू ने झट् से वह प्याली उठा ली। कहा, 'अब यह पीने के लायक नहीं रही साहब ! देखिये न, यह तो बिल्कुल ठंडी हो गयी है।'

चंदू प्याली लेकर भीतर वाले कमरे में चला गया। स्टोव की भर्...भर्... आवाज भी सुनायी देने लगी— और उसी क्षण अक अजीब सा विचार मेरे मस्तिष्क में कौंध गया।

ताश के खेल में किसी वक्त हाथके राजा रानी जैसे कीमती पत्ते भी बेकार साबित होते हैं और तुरूप की दुक्की तिक्की बाजो मार लेती है। क्या जिंदगी भी अिस खेल के समान ही नहीं है ? चौबीस पचीस साल पहले पिताजी अीरान गये, वे वहाँसे दुबारा अक बार भी हिंदुस्थान नहीं लौटे। किसी मजदूर के लडके को भी, जिस मात्रा में पिता का प्यार-दुलार नसीब होता हो, अुतना भी प्यार मैंने कभी स्वप्न में तक नहीं पाया। माँ तो मुझे जन्म देने के साथ ही चल बसीं। लेकिन यह चंदू... शनिमाहात्म्य तो यहाँ अटक अटक कर पढ़ता है लेकिन मेरे, ज्वर से ग्रस्त होने पर, डॉक्टर के यहाँ जाने से पहले किसी ओझा पंडित के यहाँ यह दौड़ लगाता है। ... अक सीदा सादा अनपढ़ व्यक्ति—जंगलों, पहाड़ों से होकर प्रवाहित होनेवाले नन्हे नन्हे सोतों का जल कितना साफ़ और मधुर होता है ! कुछ लोग भी ठीक अैसे ही होते हैं। चंदू की मुझ पर की असीम श्रद्धा-भक्ति और माँ के हृदय को शोभा देनेवाला स्नेह देखा कि पलभर मुझे अैसा जान पड़ता है—जविन की सफलता तो भक्ति में ही है, न कि शक्ति में !

चंदू ओवलटीन ले आया। मैं उसे पीने लगा। पलभर ठहरकर आहिस्ता से असने कहा, " अब कुछ ढेर लेट जाअिये साहब ! बहुत थक गये हैं आप। आज सभा में लोग लगातार तालियाँ बजा रहे थे...और तब मुझसे रहा नहीं गया। मैंने भी तालियाँ बजाना शुरू कर दिया। आज आपके भाषण में तो किसी भजनकीर्तन के अैसा रंग जमा हुआ था। "

चंदू प्याली लेकर भीतर चला गया लेकिन उसकी जरासी तारीफ़ से मेरा विचारचक्र दुबारा दुगुनी तेज़ी से घूमने लगा । मेरे भाषण के कभी वाक्यों पर लोग तालियाँ बजा रहे थे । वे तालियाँ और वे वाक्य अब भी मेरे कानों में गूँज रहे हैं—‘नारी त्याग की मंगल मूर्ति है—देवी है ।’ ‘मेरे प्राण भले ही ले लो, लेकिन मेरे नन्हेमुन्हे के प्राणों की रक्षा करो ’ यह अद्भुत तो सिर्फ़ माता ही के मुखसे निकल सकता है ।

‘देवी मानकर ही गृहस्थी और समाज में नारी की अर्चना करनी चाहिये...लेकिन इसके विपरीत, हमारे समाज में इस देवी ही को बली चढ़ाया जा रहा है ।’

‘अंधश्रद्धा के कारण, निर्मम सामाजिक संकेतों के कारण नारी के व्यक्तित्व को नष्टभ्रष्ट किया जा रहा है । मानवता के नाते जीवन का उपभोग करने के उसके अधिकारों भी को पैरों तले कुचला जा रहा है !!’

पहाड़ के निकट जाकर ज़ोर ज़ोर से चीखने पर अपनी ही आवाज़ गूँज कर उसकी प्रतिध्वनि सुनायी देती है । मेरा भी यही हाल है । शामको मेरा भाषण समाप्त हुआ तबसे मुझे ऐसा जान पड़ रहा है मानो उन वाक्यों को कोअी ज़ोर ज़ोर से रट रहा है । मेरे उन वाक्योंपर तालियाँ बजानेवाले श्रोताओं के भी कानों में क्या ये वाक्य इसी तरह गूँज रहे होंगे? हटाओ जी ! उनमें से कुछ तो गहरी नोंद की गोदमें विश्राम कर रहे होंगे, कुछ सिनेमा के परदे पर दिखायी देने वाले प्रणय-दृश्यों के दर्शन में लीन हो गये होंगे और कुछ क्लब में जाकर आमोद प्रमोद में अपने आपको खो बैठे होंगे ।

अबलाश्रम के प्रधान मंत्री के नाते पिछले साल मैंने गाँव गाँव जाकर अनगिनत भाषण दिये, समाचारपत्रों में लेख लिखे, लोगों ने मेरे भाषण सुने, लेख पढ़े ‘अशोकबाबू, भाषण देने की कला तो कोअी आपसे सीखे ’ कहकर मेरी बेहद प्रशंसा भी की । लेकिन मधुर शब्दों से रोटियाँ तो नहीं बनायी जाती । समवेदना के लिये सिर्फ़ ज़बान की आर्द्रता काफी नहीं होती । उसके लिये तो हृदय की आर्द्रता कीभी आवश्यकता होती है ।

आश्रम के पच्चीस तीस प्राणियों का दुख हलका करने के लिये आजतक कितने धनवानों ने हाथ बँटाया है ! और जिन्होंने हाथ बँटाया वह भी

किस मात्रा में ! अक प्रोफेसर हमारे द्वार पर झोली फैलाये खड़ा है, बिना कुछ लिये यह नहीं टलेगा, इसी ख्याल से अधिकतर दाता मेरी सहायता करते हैं। उनकी नज़रों में रास्ते पर का भिखारी और अवलाभ्रम जैसी संस्था के लिये सहायता मांगनेवाला व्यक्ति— दोनोंभी अकसे ही है ! कोअी कामधंधा नहीं इसीलिये दोनों भी झोली फैलाये दर दर घूमते हैं !

चंदू दुबारा चुपकेसे आकर चला गया । जाते हुअे वह कुछ मुस्कराया उसका ख्याल है—अशोक पुष्पा के प्यार में पागल है । और इसी से उसकी आँखों से नीन्द हवा हो गयी है।

हाँ ! पुष्पा को मैं चाहता हूँ ! जी जानसे चाहता हूँ ! इस बातको मैं छिपाना भी नहीं चाहता । आज भाषण देते हुअे भी, पलभर, वक्ता अशोक न जाने कहाँ गायब हो गया था । पुष्पा के अशोक ने उसका स्थान ले लिया था । सभा स्थल में तो उस वक्त पुष्पा का अशोक उपस्थित था । भाषण करते हुअे पलभर मैं रुक गया । श्रोताओं की धारणा हुअी कि वक्ता किस तरह सुंदर, प्रभावशाली अभिनय के साथ वक्तृता करना जानता है ! उन बेचारों को क्या मालूम कि श्रोताओं में से ही किसीने वक्ता पर मोहिना-अस्त्र का प्रयोग कर डाला है और उस अस्त्र के प्रभाव से वक्ता गूँगा बन चुका है । कैसी नटखट है यह पुष्पा !

लेकिन यदि मेरा मन सिर्फ पुष्पा ही के विचारों में अलझा रहता, तो मेरे दिल में इस तरह अंधेरा कदापि न छाता । तब तो वहाँ चौथ की स्निग्ध चाँदनी खिल जाती । चाँदनी ? नहीं ! संध्या-समय से मेरे दिल में तो मानों शोले धधक रहे हैं ।

मेरे भाषण के आवेश की सवने प्रशंसा की । लेकिन इस बात को शायद ही कोअी जानता होगा कि वह आवेश मैंने पाया कहाँ से । मामा और मामी की बीस साल की गृहस्थी का चित्र उस क्षण मेरी आँखों के सामने खड़ा था । यूँ तो मामा को कोअी बुरी लत नहीं थी । लेकिन तब भी, किसी शराबी की स्त्री भी मामी से अधिक सुख-शांति-पूर्ण जीवन का अनुभव करती होगी । मामा की पार्थिव पूजा, कर्म-कांड, पूजा-पाठ, नियम-व्रत ... कितना आत्मिक बल था — उनमें ! लेकिन अितना

होने पर भी, अपनी स्त्री ही को वे सुखी न बना सके, तब औरों को सुखी बनाने की बात तो कहीं रही ।

बेचारी मामी ! गरीब गौ माता ! जब मैं उसे हरिभाऊ आपटे के उपन्यास पढ़कर सुनाया करता तब उनके आँसू थामे नहीं थमते थे । ज़बान होते हुअे वह ज़बान खोल नहीं सकती थी । आँखें होते हुअे देख नहीं सकती थी । और कान होते हुअे सुन भी नहीं सकती थी ! यह तो हाल था उस बेचारी का ! बच्चों के लिये वह कितनी तरसती थी । लेकिन उसके बच्चे हमेशा अधूरे ही दिन के पैदा होते थे । एक बार वह अपने मायके गयी थी । किसी ने डॉक्टर से मुआयना कर लेने के लिये उससे अनुरोध किया । डॉक्टर ने कहा कि गर्भाशय पर शल्य क्रिया करनी होगी । कुछ डरते डरते डॉक्टर की राय मामी ने मामा को सुनायी... और उस वक्त मामा ने जो रौद्र रूप धारण किया, उसे देखकर मैं तो काँपने लगा । तब मामी बेचारी डर गयी होगी इस में कौन अचंभा था । मामा ने उस डॉक्टर को और मामी के भाभी को लाखों गालियाँ देकर उनके अमंगल की कामना की । उन दिनों नरसोबा की वाड़ी में कोअी स्वामीजी रहते थे । मामा उनसे मिलने गये । बच्चे पूरे दिन के पैदा होकर जीवित रहें इस लिये स्वामीजी ने नागबलि, नारायणबलि करने की मामा को सलाह दी । उनकी सलाह मामा ने झट् मान ली । सैकड़ों रुपये बरबाद हुअे, अग्निनारायण को जी भरकर घी खाने को मिला, गाँव के ब्राह्मण पंडितों की पाँचों अँगलियाँ घी में रही । लोग यूँ तो पहले भी मामा को एक धर्म-परायण व्यक्ति मानते थे और अब तो उनकी धर्म-परायणता की शहर में चारों ओर तूती बोलने लगी । लेकिन भेरी मामी तो अंत समय तक संतान के लिये तरसती ही रही, छटपटाती ही रही । स्कूल छूटने पर हमारे घर के सामने से होकर गुजरनेवाले बालकों की ओर वह लालचायी निगाहों से देखती । थोड़ी देर बैठने के लिये कोअी पडोसिन आती तो हाथ पैर पटकते हुअे खेलने वाले उसके नन्हें-मुन्हें के पैरों की पैँजनियाँ की मंजुल आवाज को सुनतेही वह आत्मविस्मृत सी हो जाती...

मामी को मैं जी जान से चाहता था और वह भी मुझे बेहद चाहती थी । और इस तरह मुझपर असीम स्नेह का वर्षाव कर, दूध की प्यास

मठा से बुझा कर अपने प्यासे, अतृप्त मातृहृदय को सात्वना देने की वह कोशिश किया करती थी। लेकिन जैसे जैसे मैं ज्यादा पढ़ने लगा, वैसे वैसे मामी से दूर जाने लगा। मामा भी बार बार उसे जतलाते, 'अशोक तो हमारे पास रखी दासोपंत की अमानत है। कुछ ही दिनों में वे अीरान से लौटेंगे और अपनी अमानत वापस ले जायेंगे। तुम मोह के जाल में फँसकर अशोक से ज्यादा प्यार न करो। अब दिल लगाओगी और बाद में रोना पड़ेगा।'।

पिताजी ठहरे मामा के सगे बहनोआ। किसी ज्योतिषी ने उनसे कहा था कि पहले प्रसव के बाद आपकी स्त्री के भाग्य में संतान-प्राप्ति का और कोआ योग दिखाआ नहीं देता। संयोग की बात! मुझे जन्म देकर मा अस दुनिया से हमेशा के लिये चल बसी। उस ज्योतिषी की बात का पिताजी ने सोलहों आने विश्वास कर लिया। उसने पिताजी के भाग्य में परदेशगमन का योग बतलाया। पिताजी ने बंबआ की नौकरी छोड़ दी और वे सीधे अीरान जा पहुँचे। 'जब तक आपका लड़का अपने पैरोंपर खड़ा नहीं होता, तब तक आप उसका मुँह मत देखिये वरना दोनों में से किसी अेक के प्राणों को खतरा है' उस देहाती भास्कराचार्य ने उनसे कहा था। उसकी बात का विश्वास कर पिताजी अेक बार भी अीरान से यहाँ नहीं लौटे। यह सच है कि हर महीने मामा के नाम अेक मनि-ऑर्डर और मेरे नाम आशिश और प्यार की अेक चिठी वे जरूर भेजते थे लेकिन उनकी अस अंध-श्रद्धा के कारण, बचपन के कआ सुखों से मुझे वंचित रह जाना पड़ा। मेरी ही भलाआ के ख्याल से उन्होंने मुझसे दूर रहना पसंद किया लेकिन अस दुनिया में प्राणपण से खोजने पर भी जो सुख हमारे हाथ नहीं आता, वही ज्योतिषीजी के अस लुका-छिपी के खेल से हमें क्यों प्राप्त होने लगा!

मामा का और पिताजी का स्मरण हो आने पर मुझे तो बस हँसी आने लगती है। जीवन भर वे दोनों अर्चना करते रहे। लेकिन यह तो स्वयम् उन्होंने भी नहीं जाना कि आखिर वे पूजा कर किसकी रहे हैं!

खैर! उनका मज़ाक अुड़ाने का मुझको क्या अधिकार है? बिगत दो साल से मैं प्रोफेसर बना हूँ, लेकिन मेरा भी तो वही हाल है। मेरा ख्याल था कि

डॉक्टर ज़्यादा से ज़्यादा शरीर के रोगों से छुटकारा दिला सकता है। लेकिन प्रोफ़ेसर तो नवयुवकों के, समाज के भावी आधारस्तंभों के मनो को भी निरोग बना सकता है। इसी लिये मैं प्रोफ़ेसर बना। लेकिन मैंने धोखा खाया था और अब मेरा हाल उस पंछी के समान हो चुका था, जो असली फल के धोखे में, लकड़ी के बने सुंदर फल पर जा झपटा हो और उस फल पर चोंच टकरा जाने के कारण कराह उठा हो। हमारे कॉलेज में प्रोफ़ेसर थे तो बीस-पच्चीस ही ! लेकिन उन में भी कितने दल और उपदल ! कोअी प्रोफ़ेसर छात्रों में ज़्यादा प्रिय होने लगा कि अन्य प्रोफ़ेसरों के दिलों में वह बात काँटे सी खटकने लगती है। मामी की मूर्ति आठों पहर मेरी आँखों के सामने खड़ी होने के कारण, पिछले साल मैंने अपनी मर्जी से अबलाश्रम के सेक्रेटरी का पदग्रहण किया। उस वक़्त भोली सूरत बनाकर ये ही विद्वान लोग मुझे उपदेश के पाठ पढ़ाने लगे। ‘देखो, अशोकबाबू, अबतक तुम्हारा ब्याह नहीं हुआ है। आश्रम में जवान लड़कियाँ आती हैं और वह भी ऐसी वैसी नहीं... कअी तरह की... कोअी पति का त्याग कर घर से भाग निकली हुआ, कोअी...’

शिक्षित व्यक्ति के मुँह से निकले ऐसे प्रलाप सुनना सहनशीलता की सीमा के पार है। क्या अिन किताबी कीड़ों का यही ख्याल है कि जीवन में ऐसा कुछ है ही नहीं कि जिसे हम अुदात्त कह सकें। अिन में से कौन, किस लड़की के घर जाकर रात बे रात गप्पें लड़ाते बैठता है, कौन किस लड़की को अपने साथ लेकर सिनेमा देखने जाता है, अिन बातों को कॉलेज के तमाम लड़के अच्छी तरह जानते हैं। लेकिन—

बेचारे मजबूर प्रोफ़ेसर ! खैर ! अिनकी तो बात छोड़ दीजिये। लेकिन प्रिन्सिपल जैसे अुच्च पदाधिकारी व्यक्ति...अुनकी ओर देखने पर भी मन को सांत्वना नहीं मिलती। वे बहुत ही अच्छी अंग्रेजी बोलते हैं, अनूठे ढंग से अितिहास पढ़ाते हैं, मोटी तनख़्वाह वाली सरकारी नौकरी मिलते हुआ भी, कम तनख़्वाह पर अिस कॉलेज में काम कर रहे हैं...छात्रों से अुन्हे असीम स्नेह है...लेकिन अितना होनेपर भी, उस दिन गैदरिंग के लिये जवाहर-लालजी को प्रधान अतिथि के रूप में निमंत्रित करने का छात्रों का विचार सुनकर वे किस तरह बिगड़ पड़े ! छात्रों की ओर से मैंने हिमायत की अिस

लिये वे मुझसे भी नाराज़ हुआ। कहने लगे, 'छात्रदशा में, राजनीति से दिलचस्पी रखने से पढ़ाई में बाधा पड़ती है। छात्रों की हानि होती है... राजनीति में हिस्सा लेना तो आगे से खेल खेलना है।' और प्यार मोहब्बत के खेल खेलना? छात्र भलें ही प्यार मोहब्बत के खेल खेलें... हमें कोअी अंतराज नहीं है! यज्ञकुंड की पवित्र अग्नि से अग्नि-डर लगता है लेकिन सिगरेट जलाने के लिये चाहे जितनी बार दियासलाही जलाओ, अग्नि-कोअी शिकायत नहीं!

अन बेजान रंगबिरंगी पुतलियों के कारखाने में बैठकर मैं भी—

दिमाग़ चकराने लगता है! जान पड़ता है कि मेरे अर्दगिर्द सभी ओर अंधेरा ही अंधेरा छाया हुआ है। और तब अंतर के अिस अंधेरे में सहसा हजारों विचार आने लगते हैं। लेकिन सिर्फ़ झिलमिलाने वाले तारों के बलपर, अंधेरी रात चांदनी रात में बदल नहीं सकती। अुसके लिये तो चाहिये विद्युल्लता की दमक! विद्युल्लता! मेरे जीवन में अैसी विद्युल्लता...

घंटों अिस अंधेरे की ओर मैं निहारता खड़ा रहता हूँ। चंदू शायद अिस बातपर हैरान होगा। लेकिन वह क्या जाने कि अंधेरे से व्याप्त अिस अंतरिक्ष की ओर देखने पर मेरे दिल की कैसी, अजब सी सांत्वना मिलती है। मुझे अैसा जान पड़ता है—हमारे वर्तमान समाज के समान, यह गगन-मंडल भी अेक सूना मंदिर है। नक्षत्रों के अनगिनत फूल अिस मंदिर में लगातार चढ़ाये जा रहे हैं। लेकिन अिस मंदिर में भी मूर्ति नहीं है।... यह तो सूना ही है।

यह अजीब सांत्वना तो अुस रोगी की सांत्वना के समान है, जो दूरसे किसी रोगी का दुःख देखकर पलभर मुस्करा देता हो।

मेरे कहने का मतलब चंदू की समझ में कभी नहीं आयेगा। अुसके शनिमाहात्म्य में लंगड़े-लूले विक्रम राजापर शनि देवता-प्रसन्न हो जाते हैं—राजा अुसी क्षण पहले अैसा स्वस्थ बन जाता है। लेकिन—

टिक् टिक् ... बारह बज चुके । रात्री के अिस नीरव प्रहर में घड़ी की टिक टिक सुनने पर हमेशा अेक अजीब सा विचार मेरे दिल में आता है—काल-पुरुष के हथौड़े की चोटों की यह आवाज़ है । लेकिन अिस हथौड़े से दुनिया को अबतक क्या कोअी नया रूप प्राप्त हुआ है ! अुसका रूप तो पहले जैसा ही—

विचारों की अेक आँधी सी अुठी हुआ है मस्तिष्क में ! कहीं अिन विचारों के कारण मैं कहीं पागल न बन जाअूं !

लेकिन यदि हम कोअी विशेष कार्य करना चाहते हैं तो अुसके लिये पागल बन जाना ही ज़रूरी है । कोलंबस पागल था तभी तो अुसने अमरिका खोज निकाली, शिवाजी पागल था अिसी लिये अुसने स्वराज्य की स्थापना की, कॉलरे के कीटाणुओं का आविष्कार करनेवाले वैज्ञानिक ने, अुसकी आजमाओश सबसे पहले अपने आप पर ही की थी ! अिस तरह पागल होने ही में सच्ची बुद्धिमानी है, समझदारी है । आगरकर, तिलक, गांधी, जवाहरलाल, सावरकर—सभी पागल थे, पागल हैं । और अिसी से आज हमारी मातृभूमि गर्व के साथ संसार में सिर अूँचाकर पायी है ।

चंदू का ख्याल है—अुसका मालिक बेकार ही परेशान होता है । न ठीक समयपर खाना खाता, न ठीक समयपर सोता है । लेकिन वह बेचारा नहीं जानता कि मनुष्य का शरीर तो बार बार सो सकता है—पर अुसका जाग्रत मन क्या कभी आजीवन निद्रा का अनुभव कर सकता है ! राम और सीता वनवास में, पौ फुटनेतक गपशप में रात बिता देते थे । मैं भी अुसी तरह गपशप में लीन रहा करता हूँ । मैं किससे गप्पे लड़ाता हूँ, अुसे चंदू देख नहीं पाता, न कभी वह देख पायेगा । वह दूसरा अशोक अदृश्य है लेकिन मुझ जैसा वास्तव का न होने पर भी, वह जीवित है । अस्थिचर्म के बने मनुष्य से भी कहीं ज़्यादा मात्रा में । अुस अशोक के साथ—जो मुझसे कहीं श्रेष्ठ है, गप्पे लड़ाते हुये, दिन निकल आया कि हम दोनों अेक दूसरे के गले से लिपट जाते हैं और अेक स्वर में केशवसुत की अुन पंक्तियों को गुनगुनाने लगते हैं—

* देशा विषयी गोष्टी बोलत येथें
 बसलों, विसरुनि कितीकदां निद्रेतें,
 आसीं अमुचे आस मिळाले तेव्हां,
 अश्रूमध्ये अश्रु गळाले तेव्हां
 तेव्हां आम्हीं म्हटलें—ही जहासाची
 रजनी केव्हां जाईल विरूनि साची ?
 स्वतंत्रतेची पहाट ती येईल
 उत्कर्षाचा दिन केव्हां सुचवील ?
 या डोळ्यांनीं पहाट ती बघण्याचे
 असेल का हो नशिबीं दुर्दैव्यांचे
 किंवा तीतें आणायचे कांहीं
 यत्न आमुच्या होतिल काय करांहीं ?



* यहाँ बैठकर हमारे देश की दुर्दशा पर बहस करते हुअे हमने कभी बार आँखो से नींद तक को भुला दिया । तब हम दोनोंकी साँस में साँस मिल गयी थी और हम दोनों ने अक साथ आँसू बहाअें थे । उस वक्त हमने कहा था, 'न जाने हमारे दुर्भाग्य की यह अंधेरी रात कब समाप्त होगी और स्वाधीनता की पौ कब फटेगी जो हमें सूचित करेगी की हमारे अुत्कर्ष का दिन निकट आया है । क्या वह मंगल दिन देखना हम बदनसीबों के भाग्य में लिखा होगा ? उस दिन को निकट लाने के लिये क्या हम कुछ कोशिश भी कर सकेंगे ?—

२

पुष्पा

कहते हैं कि प्रातःकाल के सपने हमेशा सत्य होते हैं । यदि यह सच है, तो कहना पड़ेगा कि अब अशोक मेरे हो ही गये । दिन निकलते—निकलते कितना सुंदर सपना देखा मैंने ! कितना अनुपम और सुविशाल मंदिर था वह । मानो पहाड़ में अुत्कीर्ण कोअी गुफा ही हो । उस मंदिर के भीतर हम गये । मंदिर का गर्भद्वार खोल कर अशोक ने मुझे भगवान की मूर्ति के स्थान पर बिठा दिया । अेक ओर तो मैं लाज के मारे मरी जा रही थी और दूसरी ओर मेरा मन अुल्लास के कारण झुम रहा था, खुशी से पागल हो रहा था ।

अशोक की ओर देखकर मैंने कहा, ‘ आप भी आभिये न भीतर । ’

अुन्होंने नहीं मैं सिर हिलाया । मैंने पूछा, ‘ क्यों ? क्या बात है ? ’

अुन्होंने कहा, ‘ तुम देवी हो और मैं हूँ तुम्हारा भक्त ! ’

बढ़िया, महीन, सुंदर साड़ी पहनते हुये समस्त शरीर में न जाने कैसी गुदगुदी सी होने लगती है । अुनके मुँह से अिन शब्दों को सुनकर मेरा मन आनंदविभोर हो, झूमने लगा ।

तभी मौसी की आवाज़ सुनायी दी और मेरी आँख खुली। सभी सुंदर सपने इस तरह अधूरे ही क्यों रह जाते हैं ?

जैसे ही बाहर अठकर आयी तो सामने ही चितोपंत का थूथना दिखायी दिया। मौसी हमेशा कहा करती है कि यह चितोपंत तो मेरा एक प्यारा, झबरा सा कुत्ता है।—लेकिन उसे देखते ही मुझे तो गीदड़ की याद हो आती है। लेकिन कहते हैं कि सबेरे सबेरे नींद से अउठते ही, गीदड़ का मुँह देखना बड़ा ही कल्याणकारी होता है। और मैंने तुरंत ही अनुभव किया कि यह कथन बिल्कुल सच है !

कभी दिनों से सोचती थी कि अकवार अशोक को अपने घर खाने या चायपर बुलाऊंगी। लेकिन कोआ बहाना ही नहीं मिल रहा था। कूल सभा में उनका भाषण सुनने के लिये मौसी भी आयी थी। अशोक का भाषण सुनकर मौसी अत्यंत प्रभावित हुई और उनके प्रति उसके दिल में बड़े ही आदर का भाव निर्माण हुआ। घर आने पर मैंने अशोक को अपने घर किसी दिन खाने पर बुलाने का जिक्र किया। मौसी ने तुरंत कहा 'अरे, तो इसमें सोचने की क्या बात है ! कल ही बुला लो न उन्हें।' मेरा ख्याल था कि कहीं यह कमबख्त चितोपंत फिजूल ही, बीच में टांग न अड़ाये। लेकिन मौसी का बाल्य-सखा होने के कारण यह शैतान यहाँ का ठेकेदार बन बैठा है तो क्या हुआ ! आश्रम में तो वह अशोक के मातहत में ही काम करता है। जैसे ही मौसी ने अशोक को बुलाने के लिये कहा, उसने ऐसी सुरत बनायी मानो मुष्किल से कड़ुआ दवाआ का घूँट हलक के नीचे अतार रहा हो। उसने कड़ुआ सुरत तो जरूर बना दी लेकिन मुँह से कहा कुछ नहीं। चुपचाप सिर झुकाए बैठा रहा।

अशोक के घर जाने के लिये मैं कपड़े बदलने लगी। साड़ी बदलते हुये, परसों का वह गीत मैं गुनगुना रही थी—अरी मैं तो प्रेम—दिवानी—

अस चितोपंत के कान बहुत लंबे हैं। बाहर ही से उसने पूछा, 'कहिये पुष्पा बहन, किसके प्रेम में दिवानी हुआ हो ?'

'अशोक के प्रेम में' यह जवाब बिल्कुल मेरे होठोंतक आया था ! लेकिन दूसरेहि क्षण माँकी गोद में आने के लिये दरवाजे तक दौड़ते हुअे आकर सहसा उसकी ओट में छिप जानेवाले बालक का सा मेरा हाल हो

गया। किसी तरह जबान से शब्द ही निकल न पाया। कहते हैं कि होठों तक पहुँचा अमृत मुँह भीतर जा पहुँचने में और भी कभी बाधाएँ होती हैं। लेकिन मेरा तो खयाल है कि होठों तक पहुँचा अमृत, मुँह के भीतर जा पहुँचने की अपेक्षा, होठों तक आ पहुँचे शब्द बाहर निकलने के रास्ते में, कहीं ज्यादा रुकावटें होती हैं।

हवा में झूमती सी मैं बंगले से बाहर चल पड़ी। बाग में माली दिखायी दिया। मैंने यों ही पूछा, 'माली चाचा, आज तो बगीचे में चारों ओर फूल ही फूल खिले नज़र आ रहे हैं! क्यों ठीक है न?' "

मेरे मुँह से अनि शब्दों को सुनकर वह कुछ हैरान सा नज़र आने लगा। बाद में मेरी समझ में आया—मेरे मन की प्रतिछाया ही मुझे बगीचे में नज़र आ रही थी।

आधे रास्ते तक मैं तेज़ी के साथ चलती रही। लेकिन बाद में अनजाने ही मेरी चाल कुछ धीमी पड़ गयी। असलिये नहीं कि मैं थक गयी थी। मगर असलिये कि दिल में न जाने कैसी कैसी आशंकाएँ उठने लगी थीं।—

न जाने इस वक्त अशोक घर पर मिलेंगे या नहीं! कॉलेज की तो छुट्टी जरूर है लेकिन आज आश्रम तो खुला ही है...या कहीं लाइब्रेरी में जाकर न बैठे हों!

और यदि घर पर मिलें भी, तो क्या मेरा निमंत्रण वे स्वीकार करेंगे? कहीं इस बहाने मेरी बात टाल तो नहीं देंगे कि तुम्हारी मौसीजी से भेरा ज्यादा परिचय नहीं है। जा तो रही हूँ लेकिन भगवान जाने वहाँ क्या होगा। लगभग एक साल होने आया। हम दोनों टेनिस खेलते हैं, घूमने टहलने जाते हैं। एकबार मेरे ज़िद करने पर मेरे साथ वे सिनेमा भी आये थे। लेकिन उनकी आँखों की ओर देखने पर, अब भी वहाँ एक परायेपनका भाव झलकने लगता है। किसी वक्त तो जान पड़ता है—एक अशोक में तीन अशोक समाये हैं। कॉलेज में पढ़ानेवाले गंभीर मुद्रा के अशोक केवल हम दोनों को एक जगह होने पर हँसी मज़ाक करने वाले, बात बात में मुझे छेड़नेवाले, दिल्लगीबाज अशोक, और कल के समान सभा में भाषण करते हुआ, ये मानो किसी से

तेज शब्दों में तर्क कर रहे हैं, किसी से लड़ाई झगड़ा करनेपर अतारु हो गये हैं। ऐसे प्रतीत होनेवाले अशोक—सिर्फ एक ही घंटे में तीन रूप धारण करनेवाले व्यक्ति का और भी तो कोई गुप्त रूप हो सकता है।

दरवाजे पर लगी नाम की तख्ती बता रही थी—‘अशोक भीतर है।’ कितनी खुशी हुई मुझे। यह साहब कभी दरवाजा भीतर से बंद कर लेना जानते ही नहीं। किसी के पूछने पर मज़ाक में कह देते हैं, ‘मेरे यहाँ हर किसी के लिये दरवाजा खुला है।’ उनके अिस श्लेष का पाँसा अुन्हीपर पलटाने के लिये अेकवार मैंने पूछा था, ‘क्या सभी के लिये दरवाज़ा खुला है? यानी चोर अुचकों के लिये भी?’ तुरंत मुस्कराकर अुन्होंने कहा था, ‘तुम जैसों के बंगले छोड़कर बेचारे चोर मेरे यहाँ क्योंकर आने लगे। चोरों को मोटी मोटी किताबों की जरूरत नहीं होती है पुष्पा!’

हर महीने अपने आपके और अेक सेवक की जीविका के लिये ज़रूरी रुपये रखकर बाकी सब रुपये अशोक आश्रम को दे डालते हैं यह मुझे मालूम था। अिस बातपर मुझे गर्व भी था। लेकिन हार—वह मामुली बातचीत में क्यों न हो किसे बर्दाश्त हो सकती है?

जवाब में मैंने कहा था, ‘जिस के घर में चोर के हाथ भी कुछ नहीं आता, वह व्यक्ति किसी वक्त और किसी के माल पर हाथ मार भी तो सकता है।’

पलभर कठोर दृष्टी से अुन्होंने मेरी ओर देखा। लेकिन तुरंत ही मुद्रा पर सौम्यता का भाव धारण कर पूछा, ‘क्या, मैं चोर हूँ?’

‘हाँ!’

वे हैरान रह गये लेकिन दूसरे ही पल मुस्करा दिये। पूछा, ‘—आखिर मैंने किसकी चोरी की है? कुछ मालूम भी तो हो!’

‘हम नहीं बताअेंगे।’ मैंने कहा, ‘लेकिन आप ने चोरी ज़रूर की है।’

‘तब चोर को गिरफ्तार क्यों नहीं करती?’

प्रणय-भावना कितनी सलज्ज होती है! भरे दरबार में चिलमन की ओट में बैठने वाली महारानी के समान, वह शब्दों की ओट में छिपकर बैठती है। अशोक ने कहा, ‘तब चोर को गिरफ्तार क्यों नहीं करती!’

अस वक्त मन होने लगा कि झट से अशोक का हाथ पकड़ लूँ और कह दूँ 'देखो यही है वह चोर ! आखिर मैंने कर ही लिया न उसे गिरफ्तार ?' दिल बारबार कह रहा था, 'कह दो पुष्पा, कह दो !' लेकिन न जाने कौन मुझे आगे की ओर ठेल रहा था और कौन पीछे की ओर खींच रहा था ।

अशोक के दरवाजे ही में यह दृश्य तेजी से मेरी आँखों के सामने दिखायी दिया । सोचा कि आहिस्ता से दरवाजा खोलकर, चुपके से भीतर जाकर जनाब को चौंका दूँ ।

लेकिन भीतर जाकर देखती हूँ तो जनाब अपनी माताजी की तसवीर पर फूल चढ़ा रहे हैं ।

दिल्लगी करने की सनक भी ठीक छींक के जैसी होती है । हम किसी तरह उसे रोक ही नहीं पाते !

सहसा मैंने कह दिया, 'किसी को यकीन नहीं होगा'—

अशोक ने पीछे मुड़कर पूछा, 'किस बातका ?'

'कि भगवान को न माननेवाले अक प्रोफेसर, अपनी घर में, किसी तसवीर की पूजा करते हैं ।'

'और पुष्पा जैसी सुंदर, पढ़ीलिखी और धनवान लड़की, कोअी अपने घर में क्या करता है यह चुपके से देखती है और इस बात का ढिंढोरा चारों ओर पीटती है, भला इस बात पर भी क्या कोअी यकीन कर सकता है ?'

जवाब में मैं कुछ कहना ही चाहती थी कि गंभीर मुद्रा से अशोक ने कहा, 'पुष्पा, दिल ही दिल में क्यों न हो, बिना किसी की पूजा किये मनुष्य से रहा जाता ही नहीं ।' अपनी माँ की तसवीर की ओर भक्ति भाव से देखते हुअे अन्होंने कहा, 'वत्सलता की, स्नेह की पूजा में अन्होंने अपने आप की बलि चढ़ा । संसार में देवी अक ही है और वह है नारी ।'

मैं तो अशोक को अपने घर खाने का निमंत्रण देने आयी थी, न कि सुंदर तत्त्वज्ञान सुनने । मैंने आहिस्ता से कहा, 'तब तो आपको मानना पड़ेगा कि आपके सामने इस वक्त अक देवी ही खड़ी है ।'

‘देवी तो अपने भक्तों ही पर प्रसन्न होती है। कहीं मकान का नंबर तो नहीं भूल गयी यह देवी?’

कितने जल्द खुश-मिजाज बन जाते हैं अशोक! सहसा मुझे सबेरे का वह सपना याद हो आया। शरारत भरी मुस्कराहट के साथ मैंने कहा, ‘वरदान माँगने के लिये आयी है यह देवी!’ ‘वर’ शब्द का उच्चारण जानबूझकर कुछ ज़ोर देकर ही मैंने किया यह बात अनुसे छिपी नहीं। वे हँस पड़े। आकुल भाव से मैं सुनना चाहती थी कि अब वे जवाब में क्या कहेंगे। तभी, टन् टन्...

भला यह कम्बख्त टेलिफोन की मशीन भी आदमी के दिल का हाल क्या जाने। और इसी लिये तो गांधीजी हमेशा मशीनों के खिलाफ थे—

टेलिफोन पर चितोपंत अशोक से बात कर रहा था—आश्रम में कोई नयी लड़की आयी थी, वह अशोक से मिलना चाहती थी।

जबतक अशोक फोन पर बातचीत कर रहे थे, तबतक मेरे दिल में न जाने कितने विचार कौंध गये। क्या यह नयी लड़की बहुत सुंदर होगी? और खासकर, अशोक ही से वह किस लिये मिलना चाहती है? यदि वह वास्तव में अनाथ होगी, तो क्या चितोपंत उसे अपने अधिकार में आश्रम में भरती नहीं कर सकते थे?

अब अशोक के लिये आश्रम जाना जरूरी था। इसलिये, जैसे ही उन्होंने रिसीव्हर नीचे रखा, मैंने कहा, ‘आज आपको हमारे यहाँ खाना खाने के लिये आना होगा! यह देखकर कि वे पलभर कुछ सोच में पड़ गये हैं, दिल ही दिल में तो मैं जलभुन गयी; लेकिन जाहिरा शांतिपूर्ण स्वर में मैंने कहा, ‘न्यौते में जाने के किये भी क्या किसी से अिजाज़त लेनी पड़ती है? पिताजा की? प्रिन्सिपल साहब की? या समाज की—?’

अनुके पिता औरान में है यह मैं जानती थी। और इसीसे मैंने जरा मजाक करना चाहा।

जनाब हँस दिये। लेकिन मुँह से हाँ कहने का कोई चिन्ह दिखायी नहीं दिया। तब मैंने अंतिम अस्त्र का प्रयोग किया!

‘आज सालगिरह है—’

‘अरे ! तो यह पहले ही क्यों न बताया ?’

‘ठीक सात बजे ! भूलियेगा नहीं ।’

‘नहीं, भभी नहीं ! भूँगा कैसे ! सात में पाँच मिनट कम रहते ही मैं हाज़िर हो जाऊँगा । तब तो तुम खुश होंगी ?’

दिनभर मेरे मन को एक ऐसी अजीब सी गुदगुदी हो रही थी । मानो फूलों के बने कालीन के ऊपर से मैं चल रही थी ।

अन मधुर शब्दों के कालीन पर मेरा दिल हर्षोन्मत्त हो, नाच रहा था, झूम रहा था !

‘अरे ! तो यह तुमने पहले ही क्यों न बताया ?... नहीं, भभी नहीं ! भूँगा कैसे सात में पाँच मिनट कम रहते ही मैं हाज़िर हो जाऊँगा । तब तो तुम खुश होगी ?’ कोअी कहेगा आखिर अिन शब्दों में पागल हो जाने जैसा है । होने की सी क्या बात है ?

अिसमें पागल होने की सी क्या बात है यह तो मैं बता नहीं सकूँगी । लेकिन भूख से व्याकुल मनुष्य को भरपेट भोजन मिल जाने पर अुसे जो खुशी होती है अुसका वर्णन क्या शब्दों में किया जा सकता है ! अशोक ही ने एक बार पढ़ाते हुअे क्लास में कहा था, ‘मछुओं के जाल में तो समुंदर की मछलियाँ ही फँसती हैं, न कि मोती !’ शब्दों का भी वही हाल है । अुनके द्वारा मन की गहराअी में छिपे भाव कभी व्यक्त हो ही नहीं पाते ।

दो साल पहले पढ़ाने के लिये अशोक पहली बार हमारे क्लास में आये । वह दिन मुझे बारबार याद आने लगा । अुनकी गंभीर मुखमुद्रा और बातचीत का ढाक-गाड़ी जैसा ढंग । पीरियड खत्म होते ही मेरे पडोस में बैठी प्रभा से मैंने कहा, ‘अिनका नाम जानती हो ?’

बेचारी सीधीसादी प्रभा । अुसने कहा, ‘हाँ ! अशोक देव’ ।

‘अरे नहीं ! तुम्हें नहीं मालूम !! अिनका नाम है स्वामी अशोकानंद !’

बत्सला, शोभना, काशी सभी ठठाकर हँस पड़ीं । अब मुझे भी ज़्यादा जोश आया था । मैंने कहा, ‘बहुत ही गंभीर मालूम पड़ते हैं ये महाशय ! भला अैसे पत्थर के बने पुतले से भी क्या किसी को प्यार हो सकता है ?’

अस दिन का मेरा वह वाक्य आजकल मेरी सहेलियों के लिये एक तकियाकलाम ही बन गया है। लेकिन उन बेचारियों का भी क्या कसूर। अशोक को स्वामीजी कहकर उनका मज़ाक उड़ानेवाली पुष्पा एक ही साल में उनका गुणगान करने लगी। टेनिस-कोर्ट पर एक बार मुझे अशोक ने लव गेम दिया। बस, एक उसी शब्द पर कभी दिनोंतक सभी सहेलियाँ श्लेष करती रहीं। लेकिन उन श्लेषों को हजार बार सुनकर भी मैंने कभी अनुभव नहीं किया कि मेरी तबियत अब गयी हो। मनुष्य सिर्फ अपने रूप, धन और विद्वत्ता ही का प्रदर्शन करना चाहता है यह बात नहीं। वह तो अपने प्रेम का भी प्रदर्शन करने के लिये निरंतर लालायित रहता है !

और इसीलिये तो आज मैंने चालबाज़ी खेलकर, खाने पर हमारे यहाँ आने के लिये उन्हें राजी कर लिया। आज शाम उनके निकट बैठकर मैं खाना खाऊँगी। चुपके से उनकी थाली में से आधी पूरियाँ निकाल लूँ तो ? या मेरी ही थाली में से एक पूरी चुपके से उनकी थाली में डाल दूँ ? लेकिन मेरी यह शरारत यदि मौसी या चिंतोपंत देख लें तो... लेकिन हर्ज ही क्या है ? मौसी से मैं कह दूँगी कि बचपन में तुम्हीं ने तो मुझे सिखाया था कि कल किया जानेवाला काम आज ही करना अच्छा होता है। कुछ ही दिनों के बाद ब्याह हो जाने पर अशोक और मैं— हम दोनों — इसी तरह दिलगी करते हुआ खाना खाएँगे। तब क्यों न आज ही से—

यों ही मैंने घड़ी की ओर देखा। मेरा ख्याल था कि चार बजने जा रहे हैं लेकिन अब तो कहीं दो बज रहे थे। न जाने ये घड़ियाँ मनुष्य के मन से किसलिये इतनी शत्रुता रखती हैं। परीक्षा के समय नौ बजे होंगे इस ख्याल से घड़ी की ओर देखने पर उसमें दस बजे के बज चुके दिखायी देते हैं; और अपने प्रिय व्यक्ति के आने में अब तीन ही घंटे बचे हैं, इस आशा से देखने पर घड़ा बताती है—अब तो और भी पाँच घंटे बाकी हैं। मोटर की रफ़्तार हम चाहे जैसी कम ज़्यादा कर सकते हैं, काश। अिन घड़ियों की चाल पर भी हम रोकथाम लगा सकते। लेकिन

सिर्फ मेरी ही घड़ी के तेज रफ्तार में दौड़ने से क्या होगा ? अशोक की घड़ी तो—

मेरी यह कल्पना अशोक को सुनाने पर वे कहेंगे— ‘तुम तो बिल्कुल पगली हो पुष्पा !’ और तब मैं कहूँगी ‘हाँ, मैं पगली ही सही लेकिन पहले यह तो बताइये कि आखिर मुझे पागल बनाया किसने ? आप ही ने तो ! और अब ऐसा कहना क्या आपको शोभा देता है ?’

लेकिन क्या यह सब मैं कह सकूँगी ?

पाँच घंटे ! समय बिताने के लिये अशोक का दिया गोंकी का उपन्यास मैं पढ़ने लगी— ‘माँ !’ अबतक यह उपन्यास मैंने पढ़ा नहीं उसे सुनकर अशोक हैरान हैं । और मैं हैरान हूँ कि यह उपन्यास अशोक को किस कदर क्यों पसंद आया ! उनके माँ नहीं है— और शायद इसी से इस उपन्यास में वर्णित माँ की ममता से वे प्रभावित हुए हो ।

पाँच बजे उपन्यास पढ़कर पूरा किया । पुस्तक का अंतिम अंश पढ़ते हुए तो मैं रो पड़ी । उस माँ से मुझे कुछ डर भी लगने लगा । अपने बच्चों को वह प्राणों से ज्यादा चाहती थी और बच्चे भी उसे बेहद चाहते थे । क्या, और कहीं जाकर वे लोग सुखशांति से जीवन नहीं बिता सकते थे ? लेकिन तब — नहीं नहीं । कल का अशोक का भाषण — यह उपन्यास —

पाँच बजे शोभना ने अपने यहाँ मुझे बुलाया था । झट्ट हो आऊँगी सोचकर मैं निकली भी । लेकिन दरवाजे ही में चितोपंत से मुलाकात हुआ । सोचा — जिस तरह चितोपंत, आश्रम से आज जल्द लौटे उसी तरह कहीं अशोक भी निर्धारित समय से कुछ पहले ही न आ धमके । और कहीं मैं ही घर पर न दिखायी दी तो न जाने क्या क्या ताने अलाहने देकर नाकों दम कर देंगे । ना रे भैया ! इससे तो बेहतर है कि शोभना चार गालियाँ दे तो उन्हें चुपचाप सुन लूँ और यहीं रहूँ ।

मैं आतीने के सामने जा बैठी । मैं चाहती थी कि आज ऐसी वेशभूषा करूँगी कि अशोक मेरी ओर देखते ही दंग रह जायँ । लगातार दो घंटे तक कोशिश करती रही लेकिन व्यर्थ ! मेरे मर्जी के मुताबिक वेशभूषा मैं कर ही न पायी । आजकल सिनेमा बोलने लगे हैं न ! काश ! यह

आभीने भी बातचीत कर पाते। लेकिन आभीने बातचीत करने लगे भी, तो क्या पुरुषों के मन का भेद वे कभी जान पायेंगे। कोअी बाढ़िया सुंदरसी साड़ी पहनने पर, या आकर्षक ढंग से बालों को सँवारने पर मेरी सभी सहेलियाँ मेरा मज़ाक़ उड़ा कर नाक में दम कर देती हैं। लेकिन अशोक के मुँह से तारीफ़ का एक शब्द भी कभी निकला हो तो कसम ! किसी वक्त तिरछी निगाहों से एक नज़र यूँ ही देखकर मुस्करा देते हैं। लेकिन अितने ही से कोअी किसी के दिल का भेद क्या खाक समझे ?

सात में पाँच मिनट कम थे, अब सात बज कर पाँच मिनट हो गये। अशोक का अब तक पता नहीं ! न जाने क्या बात है ! मन चुलबुलाने लगा। अशोक यदि आये ही नहीं तो ? लेकिन नहीं ! ऐसा कदापि नहीं हो सकता ! कोअी ज़रूरी काम होगा तो कम से कम अितना तो कहने के लिये ज़रूर आयेंगे कि मैं मज़बूर हूँ ... और एक बार अुनके यहाँ आ-जाने पर मैं देखूँगी कि वे जा कैसे सकते हैं !

घड़ी दौड़ने लगी। सवा सात साढ़े सात, ... अुधर चितोपंत और मौसी में प्यारभरी बातें हो रही थीं। मुझे क़तअी पसंद नहीं है अिस चितोपंत की ये हरकतें। और मौसी को भी क्या यह शोभा देता है ? पति आवारा निकला और अुसकी अकाल मृत्यु हो गयी — तब भी क्या हुआ ! यह बर्ताव मौसी को हरगिज शोभा नहीं देता। अरुहड़ लड़कियों जैसा बनाव सिंगार करना, हमेशा बीमारी का नाटक करना, खूंसट चितोपंत के साथ प्यारभरी बातें करना, ठठाकर हँसना, नाज़ नखरे दिखाना — मौसी के पास काफ़ी रुपये हैं, जिन्होंने अिन तमाम बातों पर पर्दा डाल रखा है। माँ और मौसी दोनों सगी बहनें हैं अिस बात का कहने पर भी कोअी विश्वास न करेगा। माँ बेचारी कोंकण का अपना मकान छोड़कर कभी बाहर निकली ही नहीं। हमेशा पुरानी, बेरंग धोतियाँ ही पहनती रही। आँगन की तुलसी मैया, रसोअी घर की बिछियाँ, और गो-शाला की गाअें-भैंसें, बस यही था अुसका मित्र-परिवार। ज्वर हो आने पर बेचारी कराहती तक नहीं थी। चुपचाप बर्दाश्त कर लेती थी। और एक ये मैना देवीजी हैं कि—

अक-दो-तीन ! आठ बज चुके। अब मैं अशोक पर बुरी तरह झल्ला

पड़ी। तो अिसका मतलब हुआ कि हज़रत का मुझसे प्यार यानी महज़ अेक नाटक ही है।

मौसी ने आवाज़ दी। वहाँ जाकर देखती हूँ तो अेक दूसरा ही नाटक चल रहा था। चितोपंत मौसी की तीमारदारी में जुटा हुआ था। उसने अिलेक्ट्रिक का पंखा चालू कर दिया। मौसी ने कहा, 'अरे, बंद भी करो! मुझे सर्दी लग जायगी।' अिसपर अुस लूथरे ने हँस कर कहा, 'अरे हाँ! आप बिल्कुल ठीक कहती हैं, मैना देवी! देखो न, मैं भी कैसा बेवकूफ हूँ।'।

'मैना देवी', 'सरकार'—भला यह भी कोअी बातचीत का ढंग है। चितोपंत वास्तव में बेवकूफ है या —

नहीं। वह सिर्फ़ बेवकूफ ही नहीं, दुष्ट भी है। वरना जब मैंने मौसी से कहा कि अशोक आठों पहर काम में अुलझे रहते हैं, तब अिसके पेट में क्यों दर्द होने लगा? तुरंत कहने लगा, 'आज आश्रम में तारा नाम की अेक नयी लड़की आयी है। शायद अुसे अपने साथ लेकर अशोक कहीं घूमने टहलने गये हों। या अुसके साथ गपशप करते बैठे हो। मैंने घर पर फोन भी किया था लेकिन चंदू ने बताया कि वे तो कबके बाहर चले गये हैं।'।

जब भी देखो, अशोक की बुराअी करने का मौका यह शैतान हाथ से जाने नहीं देता। अिस बंदर की ओर कोअी आँख अुठाकर भी देखता न होगा, अिससे अपने दिल का गुबार अशोक पर निकालता है। अशोक के मंत्रि होने के पहले यही आश्रम का सर्वेसर्वा बन बैठा था — अब अिसे कोअी नहीं पूछता! शायद अुस जलन को भी अिस तरीके से यह मिटाना चाहता हो। अशोक के खिलाफ़ जब यह कुछ कहने लगता है तब तो जी चाहता है कि अिसे अैसा मुँहतोड़ जवाब दे दूँ कि — लेकिन मौसी है न अुसकी हिमायती! झट् कहती है, 'बेटी पुष्पा, चितोपंत मेरे बचपन के साथी हैं।' तब मैं भी कह देती हूँ, 'और अशोक मेरे गुरु हैं। अुनकी बुराअी मैं नहीं सुन सकती!'।

लेकिन यह नटखट जवान किसी तरह दिल का कहा मानती ही नहीं।

ऐसे समय मेरा मन तो नहीं चाहता कि अशोक को अपना गुरु कहूँ, लेकिन —

आठ बजकर पाँच मिनट हो चुके । चित्तोपंत का अशोक की बुराभी का भजन-कीर्तन जारी ही था । मौसी ने कहा, ' दुनिया में पाप किसी हालत में छिप नहीं सकता । ' इसपर ठठाकर हँसते हुए चित्तोपंत ने कहा, 'आप भूल रही हैं, हुजूर ! आजकल तो हरएक की जेब में, हरवक्त, संतान-निरोध के साधन रखे ही रहते हैं । '

मेरे तनबदन में आग सी लग गयी ! तब भी मैंने शांतिपूर्वक पूछा, ' क्या, हर किसी की जेब में ? '

बुराभी भी कैसी अंधी होती है ! चित्तोपंत ने शान के साथ जवाब दिया, ' हाँ ! हर किसी की जेब में । '

' तो ये तमाम चीज़ें आपकी भी जेब में रखी होंगी । ' मैंने कह डाला ।

चित्तोपंत इस तरह झल्ला पड़ा कि कुछ न पूछिये ! सुपाड़ी, अधजली बीड़ियाँ आदि जेब का तमाम कूड़ा करकट निकाल कर मेरे सामने मेज़ पर धमसे पटक दिया उसने ।

पैसे के बटुए की ओर संकेत करते हुए मैंने कहा, ' और यह बटुआ खोलकर नहीं दिखाया आपने ? '

' संतान-निग्रह के साधन यानी होमिओपथी की गोलियाँ नहीं हैं, देवीजी ! ' कहकर जनाब मुँह फुलाये अक ओर बैठ गये ।

मौसी के उपदेश के डोज़ से छुटकारा पाने के लिये मैं चुपकेसे वहाँ से खिसक गयी और बाहर बगीचे में आयी ।

कैसी सुंदर चाँदनी खिली थी । सहसा उस गाने की पंक्ति मुझे याद हो आयी, ' तू मेरा चाँद मैं तेरी चाँदनी ' । लेकिन मैं भी कैसी बेवकूफ हूँ ! क्या कोअी समझदार प्रेमिका अपने प्रीतम की तुलना चाँद के साथ भी कहीं कर सकती है ? चंद्रमा तो कलंकित है । हाँ ! कलंकित ! मेरे अशोक — मेरे अशोक चंद्रमा नहीं, वे तो सूरज हैं !

अशोक

पुष्पा मुझसे नाराज़ हुआ होगी । सात में पाँच मिनट कम रहते ही उसके घर पहुँचने का मैंने वादा किया था । और यहाँ तो सवा आठ बज चुके हैं । लेकिन मैं क्या करता ! मज़बूर था । तमाम दिन मेरे मस्तिष्क में एक आँधी सी उठी थी । सोचा कि दूर कहीं अकेले में जाकर बैठूँ । शाम के वक्त, गाँव के बाहर, टीले की ओर टहलने चल दिया । एक ओर, अच्छा सा, शान्तिपूर्वक स्थान देखकर वहाँ जा बैठा । लेकिन दुबारा वही दृश्य आँखों के सामने झूमने लगे । कहीं से घड़ी ने टन् टन् करके आठ बजाये और तब कहीं मेरी तंद्रा टूटी ।

आज आश्रम में आनेवाली वह नयी लड़की तारा । जब मैंने सवाल किया कि तुम कहाँ रहती हो ? तब ' यहीं ' कहकर तुरंत उसने मेरे पैर छू लिये । ऐसी लड़की को आश्रम में स्थान देना क्या मेरा परम कर्तव्य नहीं है ? लेकिन हमारे चित्तोपंत भी एक अजीब चलते पुजे आदमी हैं । उस लड़की ने कहा था कि मैं अशोक बाबू ही से मिलना चाहती हूँ— शायद इसी बात से वे नाराज़ हुअे हों । यह सच है कि आश्रम की आमदनी और खर्च दोनों का मिलाप करते हुअे नाक़ों दम हो जाता है,

लेकिन क्या इसी से, तारा जैसी असहाय लड़की के मुँह पर जैसे अुद्धार निकाले जाय कि 'खूबसूरत चेहरे वाले व्यक्ति को भूख कम लगती हो यह बात तो नहीं है... !'

एक साल से चितोपंत और मैं — हम दोनों एक ही दफ्तर में, एक-साथ काम कर रहे हैं। लेकिन इस भले आदमी के मन की थाह मैं किसी तरह पा ही नहीं सका ! सेवा के नाम पर आश्रम का काम करना हो, तो आश्रम की लड़कियों के प्रति हमारे दिल में सच्ची सहानुभूति होनी चाहिये; लेकिन इस भले आदमी की नज़रों में तो शायद आश्रम और होटल एक से ही हैं ! लड़कियों पर बात बात में झल्लाना, किसी के जीवन के किसी राज़ को छेड़कर उनके जले पर नमक छिड़कना ... इसकी निगाहों में तो आश्रम की अनाथ लड़कियाँ मानों आमरण कारावास की कैदी ही हैं।

गाँव के बड़े बड़े लोगों से उसका मिलना जुलना है। सभी समाचार-पत्रों के संपादकों एवं संवाददाताओं से उसकी पहचान है। उसे वे लोग मानते भी खूब हैं और इसी से, काम का आदमी समझकर उसे आश्रम का कर्मचारी बना लिया गया। लेकिन उसका शायद यह ख्याल है कि लोगों की नज़रों में वह कुछ गिर गया है, इसकी वजह सिर्फ़ मैं ही हूँ। तमाम लड़कियाँ मुझको चाहती हैं यह बात भी शायद उसे गवारा नहीं है। और परसों वाली उस घटना के बाद तो जनाब मेरी ओर मरकनी मैस के समान घूर घूर कर देखते हैं। किसी अखबार के संपादक ने, किसी रसोआदारिन को पाप में फँसाया और उस संपादक के गुनाहों पर पर्दा डालने के लिये उस बेचारी को आश्रम में ला कर चितोपंत ने उससे जबरदस्ती झूठमूठ ही एक बयान लिखा लिया...दिमाग़ चक्राने लगता है अनि षड्यंत्रों को देखकर ! यदि मैं उस 'वृषभ' के संपादक की पोल न खोलता, तो बेचारी उस रसोआदारिन को सिवा आत्महत्या के कोभी चारा ही नहीं था।

हमारी अध्यक्ष महोदया तो महज़ अपने बड़प्पन की रक्षा करने के लिये कुर्सी अड़ाये बैठी हैं। कार्यकारिणी के सदस्यों में से कभी सदस्य तो ऐसे हैं जो बरसों आश्रम को दर्शन नहीं देते। सिर्फ़ एक ही वर्ष का तज़रबा।

लेकिन । मेरे जीवन के कभी वर्षों की मधुर कल्पनाओं जिस आघात से दह गयी । सेवा धर्म कोभी मधुर स्वप्न नहीं है । वह तो अक कड़ सत्य है ।

कल सभा में, मेरे ही भाषण ने मेरे मन में अक भयानक आँधी सी अुठा दी । आज जिस तारा का आगमन हुआ । अपने विगत जीवन के विषय में कुल बताने जैसी उसकी हालत ही नहीं थी । लेकिन जबसे उसे देखा, मेरी कल्पना से उसके जीवन के विभिन्न चित्र, न जाने कितने रंगों में मैंने बना डाले । ' शायद उसका पति आवारा, बदचलन होगा । उसने कोभी रखैल घर में ला कर रखी होगी, शायद जिसकी धोती पर पेट्रोल छिड़क कर उसे जला कर मारने की कोशिश उसने की होगी । किसी लालची रिश्तेदार ने, उसे किसी बूढ़े खूसट के गले बाँध दिया होगा... गरीबी के कारण यह किसी के चंगुल में फँसकर — '

कल्पना को गरुड़ के पंख होते हैं ।

लेकिन आश्रम में रहनेवाली औरतों के, उनके अपने तज़रबे भी कम नहीं हैं । हमारे विचारों में, पुस्तकों में और पोथी पुराणों में स्त्री देवी है । लेकिन आचार में ? — अक गुलाम — सिर्फ अक पालतू जानवर ! जिससे अधिक उसका मूल्य है ही नहीं ।

लेकिन आश्रम के पाँच पचीस अनाथ स्त्रियों की रक्षा का भार ग्रहण कर लेने भर से समाज के हृदय में तो परिवर्तन नहीं हो सकता । बिना उसमें परिवर्तन हुआ — लेकिन समाज के मन का परिवर्तन करना क्या अितना आसान है...

अगस्ति ने समूचा समुद्र ही प्राशन कर लिया था । सच्चे सुधारवादी के लिये अगस्ति अक महान् गुरु हैं !

अगस्ति ! —

प्राचीन कवि की कितनी भव्य और अन्नत कल्पना है यह ! लेकिन भव्य होने पर भी, आखिर वह कल्पना ही जो ठहरी !

देरी की जिस वजह पर क्या पुष्पा विश्वास कर लेगी । यदि मुझे मामुली सी ठोकर लगती तो उसे वह औरत देख पाती और उसी क्षण उसकी तमाम नाराज़ी दूर हो जाती । लेकिन मेरे दिल में अुठनेवाली

अस भयानक आँधी के कारण मेरी देह चूर चूर हो रही है — यह मैं उसे किस तरह दिखा सकूँगा ।

यह तो खैर ठीक ही हुआ कि जन्म दिनके अपलक्ष्य में पुष्पा को देने की भेंट, टहलने जाते हुअे ही मैंने खरीद ली थी । वरना यहाँसे लौटकर उसे खरीदने के लिये बाज़ार जाता, तो उसके घर जाने में रात के नौ ज़रूर बज जाते ।

बंगले के निकट आते ही फाटक के पास कोअी खड़ा दिखाअी दिया । शायद पुष्पा ही है ! मेरे दिल में अल्लास की अेक विशाल लहर हिलोरे लेने लगी । मानों अस लहर ने ही मुझे पलभर में फाटक के निकट ला छोड़ा । सिग्ध कौमुदी के प्रकाश में पुष्पा की वह आँखें-मूंदी मूर्ति कितनी मोहक दिखाअी दे रही थी । मानों चंद्रकिरणों के सहारे कोअी अप्सरा ही धरातल पर अुतर आयी हो ! असके बिल्कुल निकट जा कर मैंने आहिस्ता से पूछा, ' किसके ध्यान में लीन हो, पुष्पा ? '

वह चौंक पड़ी । लेकिन दूसरे ही क्षण असके चेहरे पर लजा की रक्तिम आभा फैल गयी । सलज मुस्कराहट के साथ असने कहा, ' किसी आदमी के ध्यान में ! '

' लेकिन आदमी की अपेक्षा भगवान के ध्यान में लीन होना अच्छा है ! '

' क्यों ? '

' भगवान तो आदमी की तरह काम में व्यस्त नहीं रहते हैं ! '

' सच है ! भला भगवान को भी क्या कामकाज करना पड़ता होगा ? '

' क्यों ! असके पीछे तो दुनिया भर की देखभाल करने का झंझट जो लगा रहता है ! '

' लेकिन आजकल तो स्वयं मनुष्य ही भगवान की अस जिम्मेदारी का भार अुठाने लगे हैं और अिसी से तो अुन्हें किसी भले आदमी के यहाँ आने में देरी होती है । '

' लेकिन यहाँ तो किसी ने किसी लाभ की आशा से ही आने में देरी कर दी है पुष्पा ! '

' लाभ ? अब भूखा रहना पड़ेगा, क्या, यही है लाभ ? '

‘लेकिन यहाँ दुख किसे है ? मेरी तो जैसे भूख प्यास ही मर गयी है ।’

‘क्यों ?’

‘किसी सुंदर मूर्ति का दर्शन जो किया है !’

‘ओह ! तो यह कहिये न कि आज आश्रम में एक बहुत ही खूबसूरत नयी लड़की का आगमन हुआ है ।’

‘आश्रम में नहीं ! बगीचे में । खिली हुयी चाँदनी में !’

प्रणय संवाद तो मानों आँखमिचौली का खेल है । कम से कम उस वक्त हम दोनों को ऐसा ही प्रतीत हुआ । चुहकते किलकारियाँ करते हम दोनों भीतर गये ।

लेकिन पुष्पा की मौसी को, निकट से देखने पर उसके बारे में मेरे दिल में न जाने क्यों, एक नफ़रत सी पैदा हुयी । चितोपंत उसका हाथ अपने हाथ में लिये बैठा था । कहीं मैं कुछ और ही न समझ बैटूँ इस ख्याल से, बात बनाते हुअे उसने कहा — ‘अशोक बाबू, हमारी मैना देवी के समान स्त्री लाखों में भी बिरली ही होंगी । भगवान् कसम ! कैसा दिमाग पाया है । पढ़ने लिखने से किस तरह ग़ज़ब का शौक है ! कैसी जिज्ञासा है ! तुम जब भीतर आये, तब मैं उन्हें हस्त-सामुद्रिक पढ़ा रहा था ।’

यह चितोपंत मैना देवी को क्या खाक हस्त-सामुद्रिक पढ़ायेगा ! हस्त-सामुद्रिक के विषय में ये जनाब स्वयं कुछ जानते भी हो तब न !

जैसे ही मैं कुर्सी पर बैठा, मैना देवी ने अपनी बीमारी का दुखड़ा रोना शुरू कर दिया । ऊपर से देखने पर तो बेचारी खासा हट्टीकट्टी, तगढ़ी दिखायी देती थी । शायद गरीब का समय काटते कटता नहीं होगा और इसी से, इस खेल के ज़रिये अपने दिल बहलाव का एक साधन उसने जुटा लिया था । और जब चितोपंत ने कहा, कि लूँगे बाबा नाम के कोअी साधुमहात्मा, जो मरे आदमियों को भी दुबारा जिंदा कर सकते हैं, जल्द ही यहाँ पधारनेवाले हैं, और तब मैना देवी अपनी बीमारी से छुटकारा पाने के लिये उनके पास जानेवाली हैं, तब तो मैं अपनी हँसी किसी तरह रोक न पाया ।

लेकिन प्रतिपल मेरे मन की चिढ़-घृणा बढ़ती ही जा रही थी । मैना

देवी जॉर्जेंट की महीन धोतियाँ पहने ... और आश्रम की लड़कियों के लिये वक्त पर तीन चार रुपये वाली धोती भी मिलना मुश्किल हो जाये। इस रंगीन मिजाज विधवा के मुँह से निकली हर बात को, इसकी हर अच्छा को समाज सर आँखों पर उठाये, और मजबूर हो कर आश्रम में आनेवाली अल्हड़ लड़कियों की पहली ही ग़लती पर समाज उन्हें कठोर शासन करे।

सोचा — भूक नहीं है कहकर यहाँसे चला जाऊँ? लेकिन मैं तो पुष्पा की सालगिरह की अवसर पर यहाँ आया था। यदि यह मैना देवी धनवान न होती तो पुष्पा को पढ़ाने का अवसर भी मुझे प्राप्त नहीं होता — और शायद पुष्पा की और मेरी पहचान भी न होती।

अपनी मौसी के विषय में पुष्पा ने एक बार मुझे बहुत कुछ बताया था; वे तमाम बातें मुझे याद हो आयीं। ग़रीब खानदान की यह सुंदर लड़की! किसी ब्यसनी, आवारा, बदचलन ज़मींदार को यह पसंद आयी। बाद में जल्द ही पति की मृत्यु हुई। इसके बाद, इसके हाथ में रुपये पैसे खेलने लगे। यह दोनों हाथों रुपये लुटाने लगीं।...

यालियाँ परसी गयीं। पुष्पा को देने का उपहार अबतक मेरे ही पास था। वह मैं उसके हाथ में देने लगा। 'आज के इस महान् खुशी के अवसर पर मेरी ओर से यह तुच्छ उपहार —' ये शब्द मेरे मुँह से निकले भी नहीं थे कि मैना देवी ने मेरे हाथ से वह उपहार खींच लिया। कहा, — 'वाह साहब! मैंने कहा, सालगिरह तो मेरी है!'

मैं हैरान रह गया। क्रोध से मैंने पुष्पा की ओर देखा। उसकी दृष्टि में क्षमा-याचना का भाव टपक रहा था। मानों वह मुझसे कह रही थी 'सालगिरह किसकी है यह बता देने पर शायद आप नहीं आते। इसलिये.....'

पुष्पा ने मुझको धोखा दिया। लेकिन मुझे खुशी ही हुई। वह धोखा नहीं था। प्यार का वह एक दिलगिरी भरा रूप था।

मैं मुस्करा दिया। लेकिन खाना खाने पर बैठते ही मेरी वह मुस्कराहट न जाने कहाँ ग़ायब हो गयी। भोजन की तमाम चीज़ें बड़ी ही स्वादिष्ट बनी थीं। लेकिन मुझे तो वे ज़हर के जैसे लग रही थीं।

मैना देवी ने बड़ी खुशी के साथ, वहाँ से कुछ ही दूरी पर, मिठाभियों पर हाथ मारते हुअे बैठे अपने प्यारे कुत्ते मुझे दिखाअे ।

अस बंगले में कुत्तों को भाँति भाँति के पक्वान्न खिलाये जा रहे हैं ! लेकिन गाँव के सैकड़ों घरों में, अन्सानों को भरपेट, रुखीसूखी रोटी तक मयस्सर नहीं होती होगी !

यहाँ कुत्तों के हर चाव पूरे किये जा रहे हैं । और वहाँ गरीबों के घरों में, नन्हेमुन्नों की कभी छोटी छोटी अिच्छाअें भी शायद अधूरी ही रह गयी होंगी !



सु शी ला

प्रेमा और प्रभाकर दोनों खाना खाने बैठे थे। उनकी थाली की ओर देखकर मेरा कलेजा मुँह को आने लगा। परसों ही प्रेमा से मैंने कहा था—
‘तुम्हारी सालगिरह के दिन मैं ज़रूर हलुआ पूरी बनाऊँगी। दो पहर में तुम्हें स्कूल जाने की जल्दी रहती है। इसलिये तुम्हारी सालगिरह हम उस रोज़ रात को मनायेंगे।’

उस वक्त, खुशी से झूमते हुअे, मेरे गले में दोनों हाथ डालकर प्रेमा मुझसे लिपट गयी थी। प्रेमा के प्यार भरे उस स्पर्श से मेरे रोमांच हो आये थे ... उसकी मधुर स्मृति अब भी मेरे मन को गुदगुदा रही है।

अब थाली में रोटी परसने पर, यह शैतान बच्चे ज़रूर कुछ न कुछ पूछ बैठेंगे।

प्रभाकर चुपचाप, नीचे सिर झुकाये खाना खा रहा था। वह खाना क्या खा रहा था, खाना खाने का नाटक भर कर रहा था। दाल चावल का अक निवाला हाथ में लिये वह कितनी देर से, न जाने किस सोच में डूब सा बैठा है यह क्या मुझे दिखायी नहीं दे रहा है! उसकी सूरत ही बता रही है कि नौकरी की तलाश में, दिनभर दरदर की ठोकरें

खाकर बेचारा निराश हो कर लौटा है । भला नौकरी भी कहीं अतनी आसानी से मिल जाती है । और उसमें भी, प्रभाकर ज्यादा पढ़ा लिखा भी नहीं है । आजकल कॉलेज की प्रथम वर्ष की परीक्षा को कौन पूछता है !

दिल में ये तमाम विचार अठ रहे थे । प्रेमा की थाली में मैं देखा । वह चावल खा चुकी थी । मैंने चुपके से आधी रोटी उसकी थाली में परस दी । तुरंत उसने कहा, 'जीजी, मेरी सालगिरह पर तुम हलुआ पूरी बनानेवाली थी न ?'

हे अश्वर ! तुमने मुझे मेरे दोनों भाजीबहन की छोटी बहन क्यों न बनया ? बचपन में, दोनों से बड़ी होने पर मुझे कितनी खुशी होती थी, कितना गर्व था । लेकिन आज —

कुछ तो जवाब देना जरूरी था । इसलिये मैंने प्रेमा से कहा, 'मैं थोड़े ही बनानेवाली थी हलुआ पूरी ?'

'तब कौन बनानेवाला था ?'

'हलुआ पूरी तो हमें भगवान् देनेवाले थे ।'

अनजान बालकों की बहस बंद करने के लिये भगवान् का नाम भी कितना काम आता है । लेकिन प्रेमा अब दूधमुँहो बच्ची तो नहीं थी । आहिस्ता से उसने पूछा, 'तब भगवान् ने क्यों न दी हमें पूरनपूरी ?'

'अुनके घर अचानक बहुत से मेहमान आ घमके । वे लोग ही सब पूरनपूरी चढ़ कर गये !'

मेरा यह अजीब सा जवाब सुनकर प्रेमा खिल खिलाकर हँस पड़ी । लेकिन प्रभाकर तो अबतक वैसा ही गुमसुम बैठा था । उसकी थाली लगभग परसी की परसी ही दिखायी दे रही थी । मैंने उससे पूछा, 'क्या बात है, प्रभाकर ? हाथ रोक कर क्यों बैठे हो ?'

'न जाने क्यों, जीजी, आज तो मुझे भूख ही नहीं है !'

'भूख क्यों नहीं है ? क्या तुम बूढ़े हो चुके ?' मेरी बात सुनकर प्रेमा को और भी जोश आया । उसने कहा, 'भैया, किसीकी थाली में रोटी बचने पर वह उसकी चुटिया से बाँध दी जायेगी ।'

अब कहीं प्रभाकर की कली खिली । उसने कहा, 'यहाँ चुटिया है किस कमबरुत के सिर पर !'

हम तीनों भी जी भरकर हँस पड़े। मैं खाना खाने के लिये बैठी। प्रभाकर अपने कमरे में जाकर प्रेमा को गाना सिखाने लगा। --

* 'तुझ्या गळां माझ्या गळां
गुंफुं मोत्यांच्या माळा !
तुज कंठी, मज अंगठी
अणखी गोफ कुणाला ?'

अस गीत को सुनकर, मेरी समझ में नहीं आने लगा कि हँस दूँ या रो पड़ूँ। मोतियों की माला - अंगूठी - सोने की अनमोल जंजीर ... भला प्रेमा ने आज तक, सपने में भी कभी क्या अिनमें से कोई आभूषण देखा होगा ? मेरी नटखट, अबोध प्रेमा ! कुछ ही समय पहले पूरनपूरी के लिये रूठकर वह रूआँसी सी हो गयी थी ! और अब मोतियों की माला पिरोने के सपने देखते हुअे वह मुस्करा रही है !

बच्चों को तो यूँ भी, कोई भी गीत पसंद आता ही है। उस गीत के मतलब से उन्हें कोई मतलब नहीं। मेरे बचपन में, मैं भी समय बे समय, गाने रटा करती थी। उन दिनों विशेष त्यौहारों के अवसरों पर, सार्वजनिक संगीत समारोहों का आयोजन किया जाता था। एक साल मैंने भी उसमें हिस्सा लिया। तमाम गाँव अुमड़ पड़ा था मेरे गाने सुनने के लिये। लेकिन हमारी पार्टी में से एक जवान लड़की सिनेमा में चली गयी और उसके बारे में हजार भुँह से हजार बातें सुनायी देने लगीं। दादी माँ ने मुझे दुबारा ऐसे समारोहों में हिस्सा लेने से मना कर दिया। उसके दो तीन साल बाद, संगीत के क्लास से भी मेरा नाम कटवा दिया गया। मुझे संगीत से, कितना प्यार था ! गाना सीखने के लिये मैं किसतरह छटपटाती थी। इंदू - जो अब सिनेमा में काम करती थी, मज़ाक में मुझसे

* 'तुम मोतियों का हार पहनो मैं भी मोतियों की माला पहनूँगा ! तुम सोने का कंठा पहनोगी मैं अंगूठी पहनूँगा। लेकिन बहन यह तो बताओ कि वह सोने की अनमोल जंजीर तुम किसे पहनाओगी ?'

कहा करती, ' सुशीला, जब तुम गर्भ में थी, तब तुम्हारी माँ शहद ज़्यादा खाती थी और शायद इसी से तुम्हारी आवाज़ में इस तरह गज़ब की लोच और मिठास भरी है । '

लेकिन दादी माँ किसी हालत में गाने की मेरी पढ़ाई जारी रखने के लिये अब तैयार नहीं थी । उसका ख्याल था कि गाना सीखकर मैं कहीं बदचलन न बन जाऊँ, नाटक में या सिनेमा में काम करना चाहूँ, और न जाने क्या क्या करने लगूँ । दूध का जला मठा भी फूँककर पीने लगता है । दादी माँ का भी यही हाल था । दादी माँ के अंक लड़का पैदा होने पर, दादाजी को न जाने क्या सनक सवार हुआ और वे किसी नाटक मञ्चली में भरती हो गये । शुरू शुरू में स्त्री और लड़के की जीविका के लिये वे दस पाँच रुपये भेजते थे; लेकिन बाद में वे मदिरा देवी के फेर में पड़ गये । घरबार सब कुछ भूल गये । दस बारह साल में स्त्री और लड़के की अन्होंने सूरत तक न देखी । बाद में अंक दिन दादी माँ के नाम एक चिट्ठी आयी — उसमें दादाजी की मृत्यु का समाचार लिखा हुआ था ।

दादी माँ ने हिंमत के साथ उस मुसीबत का मुकाबला किया । कुछ छोटे मोटे ज़ेवर थे, उन्हें बेचकर लड़के को मैट्रिक तक पढ़ाया । बाद में उसे नौकरी भी मिल गयी, उसका ब्याह हुआ । कुछ ही दिनों में वह दो बच्चों का पिता भी बन गया । नाती और नातिन के जन्म के बाद, दादी माँ के हाथ मानों आसमान को छूने लगे । लेकिन क्रूर भाग्य से भी क्या किसी का सुख देखा जाता है । प्रभाकर तो खैर दो तीन ही साल का था । लेकिन मेरी आयु उस वक्त आठ नौ साल की होने के कारण वह घटना मुझे अबतक अच्छी तरह याद है । अंक दिन की बात है । रात का समय था । कुछ कार्यवश पिताजी घर से बाहर गये ... और वे दुबारा घर लौटे ही नहीं । बिना कुछ खाये पीये, माँ और दादी माँ प्यासी आँखों से अंक के लौट आने की प्रतीक्षा करते बैठा रहीं । सबेरे मेरी आँख खुलने पर मैंने देखा कि दिन कब का निकल चुका है और रो रोकर माँ और दादी माँ की आँखें फूल गयी हैं ! स्कूल में जाने पर, तरह तरह के जलेकटे प्रश्न पूछकर लड़कियों ने मुझे स्कूल में बैठना मुश्किल कर दिया । बाद में पता

चला — पिताजी फ़रार हो गये थे । अُنके दफ़्तर के ह्पयों में कुछ गोल-माल हो गया था ... और पिताजी पर ग़बन का अभियोग लगाया गया था ।

यह सब कार्रवाजी किसी दूसरे क़र्क की थी । लेकिन अुसका दोष, बेचारे बेक़सूर मेरे पिताजी के माथे मढ़ दिया गया था ! पिताजी सीधेसादे व्यक्ति थे । दादी माँ हमेशा कहा करती, 'मनुष्य को चाहिये कि बिल्कुल भगवान् भी न बने और न शैतान ही । भगवान् होने पर भी, भोले-भाळे होने के कारण शिवशंभू की स्त्री तक का किसी के द्वारा हरण किया गया और किसी के रावण बनने पर, अुसकी सोने की लंका खाक में मिला देने के लिये किसी को प्रभू रामचंद्रजी का अवतार धारण करना पड़ा ।'

दादी माँ बहुत ही बुद्धिमान और बातूनी स्त्री थी ! पाँच सात साल तक पिताजी का कोई पता नहीं चला लेकिन माँ और दादी माँ ने अिस अवधि में तमाम घरगृहस्थी का बोझ सम्हाल लिया । किन्तु दादी माँ में जो हिंमत थी, अुसका माँ में नितांत अभाव था । वह दिन-ब-दिन कमजोर ही होती चली जा रही थी । किसी दिन, संध्या समय की बात है । अेक ददियल बाबाजी हमारे दरवाजे में आकर खड़े हुअे । मैं अुन्हें वहाँ से खदेड़ने की कोशिश कर ही रही थी, कि अुसने कहा, 'बिटिया, अिस तरह बिगड़ती क्यों हो ? डरो नहीं ! मैं तो तुम्हारा पिता हूँ ।'

पिताजी ही थे वे । अिसके अनंतर, चार छः ही रोज़ वे घर में रहे । लेकिन अुन्हें छिपाकर रखने की चेष्टा में माँ और दादी माँ के नाकौं दम हो गया । और अिसपर तुरा यह कि वे आठों पहर सब पर नाराज़ ही रहा करते थे । पिछले छः सात साल अुन्होंने किसी बाबाजी के साथ रहकर बिताये थे । अुनकी जुवान को हलुवापूड़ो और मिठाभी खाने का चसका लगा था । घर का रूखा-सूखा भोजन अब अुन्हें पसंद नहीं आता था । माँ को तो अुन्होंने तरह तरह से तंग किया । बात बात में जली कटी सुनाकर माँ का कलेजा अुन्होंने छलनी बना दिया । जो भी मुँह को आता वे बकने लगते — 'तुम जैसी चुड़ैल के साथ कौन गृहस्थी करेगा ? हमारे बाबाजी के पास कभी खूबसूरत नौजवान शिष्याओं आती हैं । बाबाजी की

तृप्ति हो जाने पर शेष प्रसाद तो हमी को मिलता है... फिर चाहे वह बर्फी हो या लडकी !'

बेचारी माँ ! वह गौ माता ही नहीं, स्वयं गायत्री थी । उसने कभी नाराजी से, नज़र अठाकर पिताजी की ओर नहीं देखा था, तब उनसे जवान लड़ाने की बात तो दूर रही ।

लेकिन पिताजी के मुँह से निकले गंदे शब्दों को सुनकर मेरे तनवदन में आग सी लग गयी । रात के बारह बज चुके थे, तब भी मैं छटपटा रही थी । किसी तरह नींद ही नहीं आ रही थी, भिसलिये, अंधेरे ही में मैं दादी माँ के बिस्तर की ओर गयी । हाथ से टटोल कर देखना चाहती थी कि मेरा हाथ धोखे से दादी माँ की आँखों को छू गया । उसकी आँखों से अविराम गति से आँसू बह रहे थे ।

दादी माँ को आँसू बहाते आज तक मैंने कभी नहीं देखा था । मुझे भी रोना आने लगा । उसके गले से लिपट कर मैं रो पड़ी । लेकिन जैसे ही मुझको रोते देखा, दादी माँ ने अपने आँसू पोंछ डाले । मुझे प्यार से सहलाते और मेरी पीठ धपथपाते उसने कहा, 'रो नहीं बिटिया । तुम क्यों रोती हो । मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि यह शैतान कभी बहुत को सुख-शांति से रहने नहीं देगा । उसे अशआराम की लत जो लगी है । लेकिन उसके ये चोंचले मैं चलने नहीं दूँगी — देखना, दिन निकलते ही उसे घर से बाहर नहीं कर दिया तो — वह मेरा अपना लड़का है — तब भी क्या हुआ — '

दादी माँ ज़ोरों से खिसक पड़ी । अंधेरे ही में प्यार से मेरे मुँह पर हाथ फेरते हुआ स्नेहसिक्त स्वर में उसने कहा, 'सुशीला बिटिया, आज से मेरा लड़का तुम हो ! प्रभाकर तो अबतक अबोध बालक है ! जबतक वह बड़ा नहीं होता... नाटक का पेशा आख्तियार कर मेरे पति ने अपने आपकी जिंदगी बरबाद कर ली । जोगी, जतियों के संग में रहकर मेरा लड़का आदमी से जानवर बन गया । लेकिन मेरा पोता हरगिज़ ऐसा नहीं निकलेगा । हम तीनों मिलकर उसे आदमी बनायेंगे — वह ख्याति प्राप्त करेगा । हमारा प्रभाकर प्रोफ़ेसर बनेगा — तहसीलदार बनेगा — मुनसीफ़ बनेगा—'

हम तीनों के बूतेपर दादी माँ ने इस नये मनोरथ की सृष्टि की थी—लेकिन तीनों में से माँ तो, आगे चलकर साल बड़े साल ही के बाद चल बसी और अब रही हम दोनों ही !

दूसरे दिन दादी माँ पिताजी को घर से बाहर कर देना चाहती थी, लेकिन उससे पहले ही, स्वयं पिताजी ही घर से चले गये। और कुछ ही महीनों बाद, माँ की प्रसूति का समय निकट आ पहुँचा। प्रेमा पैदा हुई। हूबहू माँ की सूरत पायी थी उसने। उसके प्यार दुलार में मा, दादी माँ और मैं — हम तीनों ने पिताजी के घर छोड़कर चले जाने का दुख भुला दिया। यह लड़की — मेरी नन्ही बहन थी तो गुड़िया जैसी खूबसूरत, लेकिन पहले ही से कमजोर मेरी माँ को इस वक्त की प्रसूति ने और भी ज्यादा कमजोर बना दिया।

और अंत में, एक दिन हम सबको हलाकर माँ चल बसी। माँ की मृत्यु के बाद, कुछ ही दिनों के अनंतर किसी बाबाजी के मठ में पिताजी की भी मृत्यु हो गयी।

लेकिन दादी माँ तो हिम्मत हारना जैसे जानती ही नहीं थी। दो साल की, बिना माँ की बच्ची प्रेमा ! दादी माँ ने किस होशियारी के साथ उसकी परवारिश की। किसी बात में उसे कम पड़ने नहीं दिया। मजदूरी के लिये दूसरों के घर जाना दादी माँ को पसंद नहीं था। वह रात के वक्त लोगों के यहाँ से गेहूँ वगैरा ले आती, और बड़े तड़के ही मुझे नींद से जगाकर, दिन निकलने के पहले ही उसे पीसकर घर घर पहुँचा देती थी। सीना-पिरोना, किसी के लिये जलपान की चीजें बनाना, आदि सब काम वह चुपचाप करती थी। दुनियाँ के मोहन-भोग की अपेक्षा दादी माँ के हाथ की बनी रूखी-सूखी रोटी ही हम भाभी-बहनों को अधिक प्रिय थी।

लेकिन प्रभाकर को तहसीलदार या मुनसीफ़ बना देखने के लिये दादी माँ जीवित न रही। पिछले साल जेष्ठ में प्रभाकर कॉलेज में पढ़ने लगा और दादी माँ को भगवान् के घर का बुलावा आया। कितने शांतिपूर्ण ढंग से दादी माँ चल बसी। उसकी मृत्यु के एक ही रोज़ पहले की घटना है — दादी माँ हमें छोड़कर चली जा रही है, इस कल्पना से हम तीनों रो रहे थे। हम खाना नहीं खा रहे हैं — हमने खाना तक नहीं बनाया

यह देख, लड़खड़ाते कदमों से वह उठी, मेरा हाथ पकड़कर, मुझे रसोयी घर में ले आयी — मुझे खिचड़ी बनाने के लिये मजबूर किया और छलछलाती आँखों से हमारी ओर देखते हुए वहींपर बैठी रही ।

वहाँ भीतर के कमरे में प्रेमा गाना गा रही थी और यहाँ खाना खाने के लिये मैं बैठ ही रही थी कि हाथ का निवाला हाथ ही में रह गया और मन कल्पना के पंख पर आरुढ़ हो विगत जीवन की सैर कर आया ।

वह भी बेचारा क्या करता ? दो पहर में मौसी की चिट्ठी आयी थी और उसे पढ़ चुकने के बाद दादी माँ का अक अक वाक्य रह रह कर याद हो आने लगा । उसके अंतिम शब्द — ‘ सुशीला, प्रभाकर और प्रेमा की अब तुम दीदी नहीं — माँ हो । ’

माँ ? माँ बनना स्त्री के जीवन की कितने आनंद की घटना है ! लेकिन तब, दो पहर में आयी उस चिट्ठी का जवाब लिखते हुए मेरा दिल क्यों छटपटा रहा था । मौसी के पत्र का जवाब ही न दूँ, ऐसा किसलिये लग रहा था ?

और ऐसा सोचने से फायदा ही क्या था ? आखिरी वक्त मुझे अपने निकट खींचकर क्षीण स्वर में दादी माँ ने कहा था, ‘ बिटिया, स्त्री की पूजा जरूर होती है; लेकिन उसकी पूजा तो उसके अपने घर ही में होती है । भाग्य में लिखा होगा तो पति, पुत्र को भी न को भी उसके चरणों में पत्र पुष्प समर्पित करते हैं । लेकिन घर के बाहर तो काँटे और शोलों ही का मुकाबला उसे करना पड़ता है — ’

प्रेमा का गाना अब बंद हो चुका था । थाली छोड़कर मैं उठी और भीतर वाले कमरे में झाँककर देखा । प्रभाकर के हाथ में को भी पुस्तक थी लेकिन उसे हाथ में लिये ही वह निश्चल भाव से, छत की ओर टकटकी लगाये बैठा था । आदृष्ट पाते ही उसने पीछे मुड़कर देखा । कितना करुण भाव था उसकी अनूना निगाहों में ! उसी क्षण मैंने सोचा कि जवाब में मैं ने मौसी को हाँ लिख दिया यह ठीक ही किया ।

प्रभाकर उठकर मेरे निकट आया और सहसा सिसक पड़ा । कहा — ‘ दीदी, मैं तो क्लर्क भी बनने को राजी हूँ । लेकिन — ’

मुस्करा कर मैंने कहा ‘ मेरा प्रभाकर क्लर्क नहीं बनेगा । वह तहसील-

दार बनेगा - मुनसीफ़ बनेगा । '

मैं प्रभाकर और प्रेमा की सिर्फ़ माँ ही नहीं, दादी माँ भी थी । दादी माँ हमेशा प्रभाकर के विषय में ऐसा ही कहा करती थी ।

लेकिन जैसे ही, हैरान होकर प्रभाकर मेरी ओर देखने लगा, वैसे ही मैं अपनी दिखावे की हिम्मत खो बैठी । मौसी की चिठी मैं उसे पढ़ने के लिये देना चाहती थी । कितनी मामूली बात ! लेकिन वह चिठी उसके हाथ में थमाते हुअे मेरा हाथ काँप रहा था । उस पत्र में लिखा एक एक अक्षर मुझे कंठस्थ हो गया । लेकिन जैसे जैसे प्रभाकर वह चिठी पढ़ने लगा उसके चेहरे पर क्रोध टपकने लगा । और वैसे वैसे उस चिठी में लिखा एक एक शब्द मेरे कानों को खौलते हुअे तेल के समान प्रतीत होने लगा ।

'चि. सुशीला खुश रहो ।

कुछ दिन पहले जिन सज्जन के साथ तुम्हारे ब्याह की बातचीत के बारे में मैं ने तुम्हें लिखा था, वे एक ही दो रोज़ में औरान से लौटे रहे हैं । उनकी उम्र है सिर्फ़ पैंतालीस साल की । तुम्हारी उम्र के दुगुनी भी नहीं । दो तीन साल कम ही है । मेरे ब्याह में मैं आठ साल की थी और तुम्हारे मौसाजी ये अठारह साल के । मेरी आयु से इनकी आयु, दुगुनी से भी ज्यादा था । लेकिन तब भी, हमारी गृहस्थी सुख-शांति से परिपूर्ण थी । यह तो तुम्हें मानना ही पड़ेगा ।

यह सज्जन औरान में रहते हैं । उनकी पहली स्त्री का देहान्त हो चुका है, और उस स्त्री से, उनके सिर्फ़ एक ही लड़का है । उम्र में वह तुमसे ज्यादा से ज्यादा दो चार साल बड़ा होगा । और यह तो हमारे लिये खुशी की बात है । क्योंकि ब्याह के बाद तुम जल्द ही अपने लिये बहू ला सकोगी । जिन महाशय का मैंने जिक्र किया है, उन्होंने औरान में लगभग पचीस हजार रुपये कमाये हैं । अब बस सिर्फ़ तुम हाँ कहो कि तुम्हारी किस्मत ही चमक अुठेगी । और फिर, बड़ी ज़ायदाद की मालकिन सुशीला रानी को अपनी ग़रीब बेचारी मौसी की याद तक न आयेगी !

अपने पत्र में तुम ने पूछा था कि क्या प्रभाकर की पढ़ाई बंबई में हमारे यहाँ हो सकेगी ? उसे ज्यादा पढ़ा लिखाकर आदमी बनाना निहायत

जरूरी है। आजकल मामूली मैट्रिक तक पढ़े लिखे को पूछता ही कौन है ? लेकिन तुम तो जानती ही हो कि हमारे ही बच्चों की पढ़ाई में यहाँ नाकों दम हो रहा है। फीस..., किताबें..., बाप रे बाप !

यदि यह ब्याह तुम्हें मंजूर हो, तो प्रभाकर की पढ़ाई की समस्या भी अपने आप हल हो जायगी। तुम्हें किसी बात की दिक्कत नहीं उठानी पड़ेगी। सब कुछ ठीक हो जायगा।

सच बताओ तुम्हें सुशीला ? आजकल अच्छे, अच्छे घरों की लिव्ही पढ़ी लड़कियों पर क़ायरी रहने की सनक सघार है। ऐसी लड़कियाँ तमीज़ से रहना भी जानती हैं। राम नाम भजो। ये तो रंगरलियाँ उड़ाना खूब जानती हैं। लेकिन बाद में अन्हें या तो किसी डॉक्टर की शरण लेनी पड़ती है, या पंढरपुर जैसे तीर्थयात्रा के किसी शहर जाकर वहाँके किसी अनाथालय में मुँह छिपाना पड़ता है। और हरेक भली मौसी तो यही चाहेगी कि उसकी भानजी ऐसी कुलकलंकिनी कदापि न निकले। तुम्हारी पढ़ाई भी वैसे तो नहीं के बराबर है। अंग्रेज़ी पाँचवीं छठीं पढ़ी लड़की को आजकल कोई नहीं पूछता। बुरा न मानो सुशीला, लेकिन रू भी तुम्हारा मामूली ही है। तुम खुद समझदार हो ! जानती हूँ कि जब से तुम्हारी दादी माँ चल बसीं, तब से तुम अकेली ही ने गृहस्थी का बोझ अपने कंधोंपर उठा लिया है। और इसी से, मेरा ख़याल है कि इस विषय में तुम्हें और भी विस्तारपूर्वक कुछ लिखने की कोभी ज़रूरत नहीं है।’

जैसे जैसे प्रभाकर पत्र पढ़ रहा था, उसका चेहरा क्रोध से तमतमाने लगा। अंत में, मेरी ओर देखकर उसने कहा, ‘दीदी, उस चिठी का जवाब—’

असके पहले कि मैं कुछ कह सकूँ, फाड़कर उस चिठी के उसने टुकड़े टुकड़े कर डाले। उसके हाथ से उन टुकड़ों को छीनकर मैंने कहा, ‘प्रेम-पत्रों को इस तरह फाड़ नहीं डालते, प्रभाकर !’

‘मौसी है तो क्या हुआ ? उस में अन्सानियत तनिक भी नहीं है। उससे पूछो तो, क्या अपनी लड़की का ब्याह कर सकती है वह जैसे बूढ़े खूसट के साथ ?’

५

दा सो पं त

भभी वाह ! पिछले पचीस साल में अिस बंबली का तो जैसे कायापलट ही हो गया है । बोरीबंदर से अुतरकर मैं सीधा अिस नारसिंहाश्रम में आया । लेकिन मुझे तो रह रह कर ऐसा आभास हो रहा था कि कहीं धोखे से, बंबली आने के बदले मैं लंदन तो नहीं आ पहुँचा । यह तो खैर अच्छा हुआ कि नारसिंहाश्रम के नाम की तख्ती दरवाजे पर ही लगी थी । वरना मैं जरूर समझ बैठता कि मैं किसी अीरानी होटल में ही निवास के लिये आया हूँ । मैनेजर के दफ्तर में, सामने ही रेडिओ रखा दिखायी दिया । अीरान जाने के पहले भी मैं अिसी आश्रम में रहता था । अुस वक्त, अिस भले आदमी से ग्राहकों ने लाख बार अनुरोध किया था कि अुनके मनबहलाव के लिये एक ग्रामोफोन खरीदा जाय । लेकिन जनाब टस से मस न हुअे । ग्रामोफोन नहीं खरीदा, नहीं खरीदा । ग्राहकों के नाकों दम कर देने पर यह कम्बख्त फीस्ट के दिन कहीं से ग्रामोफोन माँग लाता था और बार बार अुन्हीं रिकाडों को बज्ज कर ग्राहकों का मुँह बंद कर देता था । 'जमना तट'—शायद ऐसा ही कोअी गीत अुस ज़माने में लोगों को बहुत प्रिय था । और वास्तव में, अुस गाने में गज़ब की मधुरता थी भी ।

लेकिन मैनेजर, उसी एक रिकार्ड को अितनी बार दुहराया करता था कि अंत में बूबकर, एक बार किसी ने उस से कहा भी था, 'मैनेजर साहब, इस जमना के तट की मिट्टी अब बिल्कुल ढह चुकी है। बचकर रहिये, वरना, सहसा पैर फिसलकर, कहीं जमना में आप गोते खाते दिखायी न दें।'।

मैनेजर से गर्पे लड़ाते हुअे, अब के एक बढ़िया-सा रेडिओ खरीदने का मैं ने दिल में निश्चय किया। हाँ ! आखिर यहाँ हमारा और हमारी होनेवाली श्रीमतीजी का समय तो कटना चाहिये। सबेरे स्नानसंध्या, पूजा-अर्चा, और शाम को देवदर्शन में मेरे चार घंटे तो आसानी से कट जायेंगे लेकिन श्रीमतीजी के लिये दिलबेहलाव का कोअी साधन तो चाहिये। वरना 'सिनेमा देखने चलो' की रट लगा कर वे मेरा दिमाग चोट जायेंगी। ये सिनेमा के चोंचले हमें तो भअी, कृतअी पसंद नहीं हैं। अपनी स्त्री के बगल में कौन बैठा है, अिसे अंधेरे में पतिराज देख नहीं पाते। अिसे तो छोड़िये, लेकिन सामने परदे पर दिखाअी देनेवाले दृश्य भी क्या किसी भले आदमी के देखने काबिल होते हैं। चूमना — प्यार करना — बाहों में भर लेना — मैं पूछता हूँ कंबख्तो, क्या दुनियाँ में अिन बातों को छोड़कर दिखाने के लिये कुछ और है ही नहीं। और यदि तुम चुंबन का दृश्य दिखाना ही चाहते हों, तो छोटे बच्चों का चुंबन क्यों नहीं दिखाते ?

कमरा दिखाने के लिये कुली के साथ मैनेजर अूर गया था, वह लौट आया। अब उसका चेहरा मैं बिल्कुल निकट से देख पाया। जब मैं यहाँसे अीरान गया था, तब उसके सर का एक भी बाल सफेद नहीं हुआ था और अब देखता हूँ तो उसके सर पर खासा गंज नज़र आ रहा था।

'हाँ, तो साहब, मेरा नाम लिख लीजिये।' मैंने उससे कहा।

'मुझे याद है। भला आपका नाम मैं कभी भूल सकूँगा, बाबूजी ! आप तो हमारे यहाँ हर साल, सपरिवार बरार से आते हैं न — ?'

'सपरिवार आते हैं ?' बेवकूफ़ कहीं का ! कुछ भी तो याद नहीं है और कहता है, 'मुझे आपका नाम याद है।' सोचा कि कसकर कान अुमेठते हुअे अिस गधे से कह दूँ कि 'मेरा नाम है दासोपंत देव और मैं

पच्चीस साल के बाद अीरान से लौट रहा हूँ' ! लेकिन फिर सोचा, हटाओ भी ! यह तो अब बिल्कुल बूढ़ा, जर्मी हो चुका है । अुमेठते हुए, कहीं दूटकर कान हाथ ही में न आ जाय !

मेरा नाम सुनकर वह हैरान रह गया । लेकिन तुरंत, ठठाकर हँसते हुअे उसने कहा, ' अच्छा ! तो आप हैं दासोपंत देव ! देखिये साहब ! मैं भी कैसा बेवकूफ हूँ । बरार से अघेड़ अुम्रवाले एक साहब हर साल हमारे यहाँ आते हैं । अुनकी और आपकी सूरत अस कदर मिलती जुलती है कि क्या कहूँ !'

कैसा अजीब आदमी है यह मैनेजर ! ये महाशय खुद बूढ़े हो चुके हैं, और इसी से अिन्हें और लोग अघेड़ अुम्र के दिखाअी देने लगे हैं ।

अशोक के नाम अेक टेलिग्रेम लिखकर मैं ने अुसके पास दे दिया और सीधा अूपरवाले मेरे कमरे में जा पहुँचा । कमरे की खिड़की में खड़े होने पर बाहर का दृश्य बड़ा ही सुहावना दिखाअी दे रहा था । देखिये न, सिर्फ पच्चीस साल में लोगों के रहन सहन में कितना फर्क पड़ जाता है । अुन दिनों नौकरी की तलाश में मैं बंबअी आया था, लेकिन तब भी मेरे सिर के बाल वही पुराने ढंग के थे और मैं ने सिर पर चुटिया रखी थी । लेकिन अब अस बंबअी के रास्ते से होकर, नंगे सर गुजरने वाले भले आदमियों में से किसी अेक के सिर पर कसम खाने के लिये भी चुटिया दिखाअी नहीं देती है । अच्छे घर की, लगभग चालीस से भी ज्यादा अुम्रवाली औरतें नये फैशन्स से, बिना कच्छ की धोती पहने रास्ते से अिठलाती हुअी जाती दिखाअी दे रही हैं । अिसे घोर कलजुग नहीं तो क्या कहा जाय ! खैर ! मुझे क्या मतलब है दुनिया के लोगों से । श्रीमतीजी वैसे कोअी ज्यादा पढी लिखी नहीं है । अच्छे भद्र परिवार की लड़की है । लड़की के मौसअी ने तसवीर भेजी थी और अुसे सिर्फ देखते ही मैं भाँप गया कि लड़की बड़ी ही विनम्र स्वभाव की मालूम होती है । सोचा, शुभस्य शीघ्रम् ! लड़की को देखने, पसंद करने के तमाशे की ज़रूरत ही क्या है ? वहाँ से मैं ने मेरी स्वीकृति लिख कर भेज दी ।

किसी ने बाहर से दरवाज़ा खटखटाया । दरवाज़ा खोलकर देखता हूँ तो हमारी होनेवाली श्रीमतीजी के मौसअी बाहर खड़े दिखाअी दिये ।

अन्हों ने मुझे लड़की के हाथ की लिखी चिठी दिखायी । लिखा था, 'मैं खुशी से ब्याह के लिये राजी हूँ' । खैर ! यह तो अच्छा ही हुआ । वरना ब्याह के बाद कोई कंबख्त झूठमूठ ही कुछ का कुछ कहकर उसका दिल मोटा कर देता ।

पत्र यहीं छोड़कर कुछ देर के बाद जनाव मौसाजी तो चले गये । लेकिन अब किसी तरह मेरा वक्त कटते नहीं कट रहा था । उस बेचैनी को दूर करने के लिये, यूँ ही संदूक खोला और लड़की की तसवीर निकालकर उसे गौर से देखने लगा । सुशीला ! नाम तो भली, क्या खूब रखा है लड़की के माता-पिताने । ब्याह के बाद मैं भी श्रीमतीजी का वही नाम बहल रखूँगा । आजकल लड़कियों के नाम सिनेमा की अभिनेत्रियों के या अमरकोश के नामों जैसे रखने की सनक लोगों पर सवार है । अभिहितान पस करनेवाली लड़कियों और नव-दंपति की, समाचार-पत्रों में छपनेवाली तसवीरों के नीचे छपे नामों की ओर अक नज़र डालिये ! कांचनमाला — सुवर्णप्रभा — हेमलता ! कोई कहेगा ये लड़कियों के नाम नहीं — ये तो विभिन्न भस्मों ही के नाम हैं !

संदूक में अशोक की बचपन की एक तसवीर थी । उसे निकाल कर, मेज़ पर सुशीला की तसवीर के निकट रख दिया । यूँ तो मैं कोई कवि नहीं हूँ । लेकिन उन दोनों तसवीरों की ओर निगाह जाते ही, बचपन में याद किये शाकुंतल के गीत की एक पंक्ति सहसा याद हो आयी ! 'वृक्षलता अिन दोनों की जोड़ी यह कितनी सुंदर !' और दूसरे ही क्षण मैंने सोचा, क्या कालिदास और क्या उनके चचा शेक्सपीयर ! अिन सब के सिरस्पर युवक-युवती की ही जोड़ी लगाने की सनक सवार रहती है । लेकिन क्या युवक-युवति की या पति-पत्नी की जोड़ी के समान माता और उसका नन्हामुन्हा तथा पिता और उसकी अबोध बालिका की भी जोड़ी देखकर मन प्रसन्नता से झूम नहीं उठता ? मैं हैरान हूँ कि यह बात अिन कवियों के दिमाग में क्यों नहीं आती ? दिल चाहने लगा कि कालिदास की वृक्षलतावाली उस काव्यपंक्ति में अुचित संशोधन करूँ । सुशीला और अशोक की तसवीरों की ओर गौर से देखते हुअे हलकी आवाज़ में मैं गुनगुनाने लगा 'पुष्पलता अिन दोनों की जोड़ी यह कितनी सुंदर !'

मेनेजर ने समाचार-पत्रों का ढेर का ढेर लाकर कमरे में पटक दिया। अशोक की तसवीर मेज़ ही पर पड़ी रहने दी और मैं समाचार-पत्र पढ़ने लगा। यूँ तो सुशीला की भी तसवीर मेज़ पर पड़ी रहती तो कोभी हर्ज नहीं था। लेकिन सोचा कि कहीं मुलाक़ातियों में से कोभी आकर, पूछ न बैठे कि यह तसवीर किसकी है? और तब—

यहाँ के लगभग सभी अख़बार आजकल भविष्य वाणी छापने लगे हैं। अीरान में इस तरह भविष्य के पीछे लोग पागल नहीं थे। लेकिन मैं जानता था कि यहाँ किसी न किसी दिन वह होकर ही रहेगा। जिस वक्त मैं अीरान गया, तब समाचार-पत्रों के संपादक और अपने आप को बुद्धिमान कहलानेवाले, पढ़े लिखे लोगों को बकते हुआ मैंने सुना था—‘भविष्यवाणी तो एक पागलपन है, सनक है। ग्रहराशी आदि सब झूट हैं’। जान पड़ता है कि अब अिन साहबों ने शनिदेवता के कोप का प्रसाद चख लिया है। अिन संपादकों से कहना, कि ‘देवी देवता झूट हैं’, ‘धर्म प्रलाप है’ कहकर, अग्रलेखों में, गला फाड़कर चाहे जितना चीखते रहो, लेकिन मेरे भाअियों तुम्हें मानना ही पड़ेगा कि अब समाचार-पत्रों में भविष्यवाणी को बिना स्थान दिये कोभी चारा ही नहीं है।

अेक अेक समाचार-पत्र अुठाकर मेरा राशीफल मैं देखने लगा। पहले भविष्य का आरंभ ही काव्य की इस पंक्ति से हुआ था।

* प्रे मा वां चु नि सर्व सु नें
ज ग भा से बा पु ड वा णें !

मेरी समझ में नहीं आया कि भविष्य लिखनेवाला कवि है या ज्योतिषी। हरअेक राशी के लिये अेक अेक कविता-पंक्ति प्रयुक्त की गयी थी। लेकिन अितना तो ज़रूर मानना पड़ेगा कि अुस भविष्य में कुछ कुछ सचायी ज़रूर थी। जान पड़ता है कि मेरे मन का भाव ज्योतिषीजीने सही सही भाँप लिया था।

* ‘प्यार बिना जीवन सूना
सूना है सब संसार !...’

दूसरा समाचार-पत्र खोलकर मेरी राशी का भविष्य देखा। यह ज्योतिषीजी बड़े ही तत्त्वज्ञ दिखायी दिये। लिखा था, 'मनुष्य अपने मन की याह कभी पाता ही नहीं; असलिये जल्दबाजी से काम लेना खतरनाक है। शादी-ब्याह के मामले में शीघ्रता न कीजिये।'...अिसी से तो कहते हैं कि दार्शनिक बेवकूफ होते हैं। जनाव लिखते हैं कि शादी-ब्याह के काम में शीघ्रता न कीजिये। ब्याह के लिये नहीं तो क्या स्वर्ग-लोक सिधारने के लिये शीघ्रता की जाय ?

मसूरकर ज्योतिषीजी की बनायी लंबीचौड़ी जन्म-कुंडली मेरे संदूक में पड़ी है। उसमें लिखा हुआ एक एक अक्षर आजतक सच साबित हुआ है। तब जैसे बेवकूफी से भरे भविष्य पढ़कर बेकार ही अपना दिमाग क्यों खराब कर लूँ, कहकर मैंने तमाम समाचार-पत्रों को एक ओर फेंक दिया और चुपचाप पलंग पर लेटा रहा। यूँ ही आँखें मूँद ही रहा था कि सुशीला की तसवीर और उसके निकट ही रखी किसी अबोध शिशु की तसवीर मेरी आँखों को दिखायी देने लगी और उसे देख मुझे हँसी आने लगी।

अशोक जबतक बंबयी नहीं आ पहुँचता, यहाँ मुझे अकेले ही समय बिताना होगा और समय तो किसी तरह काटते नहीं कट रहा था। अीरान में मैं पच्चीस साल रहा, लेकिन दिल अिस तरह कभी चंचल-अधीर नहीं हो अुठा था। लेकिन अब तो एक एक दिन, एक एक साल जैसा सुदीर्घ प्रतीत हो रहा था।

भविष्य पर मैं विश्वास करता हूँ, अिस बात को मैंनेजर अच्छी तरह जानता था। अुसी दिन, अुससे मिलने के लिये कोअी मशहूर ज्योतिषी आया था। अुसे अुसने अूपर, मेरे कमरे में भेज दिया। लेकिन आते ही, वह गधा तो बताने लगा कि अब भविष्य में मेरे भाग्य में संतान-योग नहीं है। मैंने मसूरकर की बनायी जन्मपत्री अुसके सामने पटक दी। अिस वर्ष का भविष्य भी अुन्होंने लिख भेजा था। वह भी दिखाया—
'लग्नयोग निश्चित ! घर में जल्द ही बालबच्चा खेलने लगेगा।'

और कोअी भला आदमी होता तो अब चुपचाप वहाँसे खिसक जाता। लेकिन ये ज्योतिषीजी तो अपना रास्ता नापने के बदले, मसूरकरजी को ही

गालियाँ देने लगे। मैंने उनका गर्दन पकड़ी, उसे कमरे के बाहर कर दिया और मैंनेजर को ताकिद की कि अब स्वयं ब्रह्मा का पिता भी आये, तो उसे ऊपर, मेरे पास मत भेजना !

लेकिन मैंनेजर भी ऐसा ग़वार कि मेरा पाँसा मुझ ही पर पलटाने के लिये, अशोक के आने पर उसे ही उसने रोक लिया। अब इस बेवकूफ़ को क्या कहें ? इसी ने तो अशोक के नाम अपने हाथ से टेलिग्रेम लिखा था। यही सच है कि सिखाने से कभी अकल नहीं आती।

अशोक ऊपर मेरे कमरे में आया और 'पिताजी' कहकर उसने मुझे प्रणाम किया। पिताजी ! अशोक के मुँह से उस शब्द को सुनकर मेरी खुशी का ठिकाना न रहा। सोचा, लपककर उसे अपने बाहों में भर लूँ, उसे कसकर अपने सीने से चिपका लूँ — लेकिन अशोक तो अब मेरे सामने एक नौजवान के रूप में खड़ा था। मेज़ पर रखा तसवीर में और अशोक की सूरत में तनिक भी समानता दिखायी नहीं दे रही थी।

मैंने उसे अपने निकट बिठाया और मेज़ पर रखी तसवीर की ओर देखते हुए कहा, 'अतने साल तक इस तसवीर ही को मैं रोज़ देखा करता था। मुझे ऐसा लगता था कि मेरा अशोक अबतक एक अबोध शिशु ही है। सपने ही में मैं तुम्हारा प्यार दुलार करता था, तुम्हें गोद में लेकर घंटों बैठता था, तुम्हें अपनी पीठ पर सवार करा मैं स्वयं घोड़ा बनता था। लेकिन यदि मैं अब ऐसा करूँ, तो लोग मुझे घोड़े की बजाय गधा कहेंगे और गधा भी ऐसा बैसा नहीं...टूट आरानी गधा !'

अपनी ही बात पर मैं खिलखिलाकर हँस पड़ा। अशोक के होंठों पर मुश्किल से मुस्कराहट की एक क्षीण रेखा प्रस्फुटित हुई। मैंने दिल में कहा, साहबजादे बड़े ही होशियार मालूम पड़ते हैं।

यूँ ही, बात बात में मैंने ब्याह का जिक्र छोड़ा। खुलमखुला तो कह भी तो नहीं सकता था। मैंने कहा, 'टेलिग्रेम देकर मैंने तुम्हें इस-लिये बुलाया कि काम ज़रा जल्दी का था; और तुम तो जानते ही हो कि ब्याह-शादी के मामले में अक्सर जल्दी करनी ही पड़ती है।' उसने सोचा — मैं कहीं पर उसीके ब्याह की बात तय करना चाहता हूँ। मैंने उसके सामने मसूरकरजी की बनायी पत्रिका खोल कर रख दी, मेरा

लग्न-योग और संतान-योग दिखाया और ब्याह मेरा हो रहा है यह स्पष्ट रूप से सूचित करने के लिये कहा, 'एक नहीं, दो नहीं, पूरे पच्चीस साल बिना बीबी-बच्चे के, मैंने आीरान में बिताये हैं—'

मेरा ख्याल था कि मेरे मुँह से अिन शब्दों को सुनकर उसका दिल पसीजेगा। आखिर अपना पिता अिस अुम्र में किसलिये ब्याह करने पर मजबूर हो रहा अिसे वह ठीक तरह से जान पायेगा। लेकिन अिसके विपरित, वह तो मुझे ही अुपदेश के पाठ पढ़ाने लगा। बस, हम दोनों में ठन् गयी।

अशोक ने कहा, 'लेकिन पिताजी, अिस अुम्र में ब्याह करना आप को—'

अुसकी बात काटकर मैंने पूछा, 'मेरी ऐसी कितनी ज्यादा अुम्र हो गयी है? अिस अुम्र में भी तुम्हारे साथ कुस्ती लड़ने की ताकद मुझ में है।'

'लेकिन यदि आप ब्याह करना चाहते हैं तो अधेड़ आयुवाली किसी विधवा के साथ पुनर्विवाह क्यों नहीं करते?'

'देखो, अशोक! मेरे खयाल से, आधुनिक शिक्षा के कारण तुम्हारे विचार बड़े ही सुधारवादी बन चुके हैं। लेकिन इतने साल आीरान में बिताने पर भी, मैं तो वही, लकीर का फकीर ही रहा हूँ। देवी-देवता, धर्म-कर्म, साधु-संत शनि-मंगल आदि सबका मैं अबतक पहले जैसा ही विश्वास करता हूँ।'

'तो क्या, आपकी कन्या-सी लगनेवाली किसी लड़की के साथ, अिस अुम्र में आप ब्याह करेंगे? ब्याह के बाज़ार में क्या आप एक लड़की खरीदेंगे?'

'ब्याह के बाज़ार में तो हर किसी को अपने आपका सौदा ही करना पड़ता है, बेटा! तुम्हारे पिताने आीरान में पच्चीस साल बिताये, वहाँके शहा के मेहमान की हैसियत से नहीं—मिट्टी के तेल की किसी कंपनी में और दवाअियों की किसी दूकान में अपने जीवन के अितने साल अुसने बिता दिये हैं। और अब ...'

मेरे अिस अुत्तर ने अशोक की जैसे जुवान ही बंद कर दी। बिना कुछ

कहे वह चुपचाप गुमसुम बैठ गया। सख्त लोहा अब बिल्कुल नर्म बन चुका था। तब भी, दो चोटें और लगाने के अिरादे से मैंने कहा “देखो बेटा, जवान बच्चों के ब्याह में बुजुर्गों का और बुजुर्गों के ब्याह में बच्चों का दखल देना ठीक नहीं। तुम चुपचाप मेरे ब्याह में आओ — जितनी भी तुम खा सको, मिठाभी ख. लो और अपने कमरे में बैठकर, आराम से मनोविज्ञान की पुस्तकें पढ़ो।’

मेरा ख्याल था कि इस पानी से आग ज़रूर बुझ जायेगी लेकिन वह तो पानी नहीं, तेल साबित हुआ — मिट्टी का तेल !

अशोक ने सहसा कड़क कर कहा, ‘चाहे मेरे प्राण भी क्यों न चले जाँय, आपके ब्याह में मैं कदापि उपस्थित न रहूँगा। आपकी खरीदी हुई, नयी माँ की सूरत देखने के लिये मैं आपके मकान में भी कभी कदम तक न रखूँगा ! पिताजा, अपने सुख की नींव औरों के दुख पर जमाने से बढ़कर दुनियाँ में और कोअी महापाप नहीं है।’

यह सब वह सच्चे दिल से कह रहा था। पलभर उसकी बात में मुझे भी सचाओ प्रतीत हुआ। लेकिन दूसरे ही पल मैंने सोचा — अशोक को दुनियाँ का तज़रबा ही क्या है ? पुस्तकों में लिखे सुंदर तत्त्वों को रट कर उन्हें औरों के सामने कह सुनाने जैसा आसान इस दुनियाँ में और कुछ नहीं है। ये नवयुवक अक्सर यहींपर धोखा खाते हैं। बड़े तपाक के साथ अशोक ने कह तो दिया कि ‘अपने सुख की नींव औरों के दुख पर जमाने से बढ़कर दुनियाँ में और कोअी पाप नहीं है’, लेकिन जरा पूछो तो इससे, कि यदि इसके प्राणों की रक्षा करने के लिये इसकी माँ मृत्यु का आलिंगन न करती, तो मुझे ज्ञान सिखाने के लिये आज क्या यह इस नारसिंहाश्रम में आ पाता ?

लेकिन उसका मुँह बंद करने के लिये यह सब पूछने की ज़रूरत ही क्या थी ? यह सुशीला की चिट्ठी ही उसके हाथ में मैंने थमा दी। उसके अिन शब्दों को पढ़कर कि ‘मैं खुशी के साथ ब्याह के लिये तैयार हूँ’ साहबज़ादे के चेहरे पर हवाभियाँ अुड़ने लगीं। मेरे होंठों तक आया था कि उसे कह दूँ कि ‘बच्चू, अखिर मैं तुम्हारा पिता हूँ। चार-पाँच ही नहीं, ठीक बीस बसंत मैंने तुम से ज़्यादा देखे हैं !’

न जाने कबतक उस चिठी की ओर देखते हुअे अशोक पुतले की भाँति खड़ा था । पिता-पुत्र का समझौता हो रहा है, अस खयाल से मुझे भी खुशी हुआ । लेकिन बाद में, उस चिठी पर लिखे पते की ओर अक नज़र देखकर उसे मेरे हाथ में थमाते हुअे साहबज़ादे ने कहा, ' खैर पिताजी ! आपकी और मेरी पहली ही मुलाक़ात को अंतिम मुलाक़ात का रूप प्राप्त होनेपर मुझे अफसोस है...लेकिन...'

असके आगे का भाषण सुनकर फायदा ही क्या था ! क्रोध से आग का गोला बनकर, मैंने उसे उसी क्षण मेरी आँखों के सामने से निकल जाने के लिये कहा । ...

दो मिनट के बाद मैंने खिड़की से बाहर झाँक कर देखा...अशोक दूर, दूर, चला जा रहा था ।

● ● ●

पुष्पा

अशोक मुझे छोड़कर दूर दूर चले जा रहे हैं इस ख्याल से मेरी आँखें छलछला आयीं ।

यूँ तो वे कहीं ज़्यादा दूर नहीं — बंबई ही जा रहे थे । उनके पिता अचानक अीरान से लौटे । अशोक के नाम अुन्होंने टेलिग्रेम भेजा और अुनसे मिलने के लिये वे तुरंत चल पड़े, इस में दुख की बात ही क्या थी । लेकिन विधाता ने नारीयों के दिलों का निर्माण ही फूलों से किया है ।...

किसी ने लिखा है — शायद गड़करीजी ने ही —, कि 'स्त्री की आँखों में गंगाजमना दिखायी देते ही पुरुषों की सरस्वती तुरन्त प्रकट होती है।' यह कथन बिलकुल सच है । मेरा अपने रुमाल से चुपके से आँखें पोंछना अशोक ने देखा — और उसी क्षण, ढिब्बे की खिड़की से अपना हाथ अुन्होंने अलग किया और जेब से अपना रुमाल निकाल कर कहा, 'क्या, मैं भी कुछ सहायता कर सकता हूँ ?' मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे घन-घोर वर्षा के बीच सहसा स्निग्ध चाँदनी खिल गयी हो ! गर्दन को एक नाजूक-सा झटका देकर, संकेत ही के द्वारा मैंने कहा, 'आप को तो बस हमेशा दिलगी ही सूझती है ।'

और उन्हें सच दिल्लीगी सूझी भी थी। उन्होंने कहा, 'गंगाजमना में बाढ़ आ जानेपर, गाँव के गाँव बह जाते हैं।—'

'हाँ! सुना है मैंने! लेकिन यकीन रखिये, इस गंगाजमना में आप कदापि डूब नहीं सकते!'

तुरंत उन्होंने बातचीत का रुख बदलते हुअे कहा, 'पुष्पा, — मेघदूत तो तुमने पढ़ा ही है! उस जमाने में टेलिग्रेम नहीं थे, टेलिफोन नहीं थे, यही नहीं, चिट्ठी भेजने के लिये डाकखाने तक का प्रबंध नहीं था। और इसी से तो मजबूर होकर बेचारे उस यक्ष को, मेघ के द्वारा अपनी विरहिणी स्त्री के पास खुशहाली का संदेश भेजना पड़ा। उस यक्ष की स्त्री की अपेक्षा तो तुम्हारा दुख ज्यादा नहीं है न?'

मेरा दुख! शायद पुरुष स्त्रियों के दुखों का अनुमान ही नहीं कर पाते। आज हम दोनों ने किसी बगीचे में सैर के लिये जाने का निश्चय किया था। वहाँ नदी में तैरते हुअे, अशोक के मुँह पर मैं जी भरकर पानी के छीटें ओड़ानेवाली थी। बोटिंग करते हुअे, 'अक था राजा' वाला गीत सुनाकर, उसे सुनते हुअे वे किस तरह प्रसन्न होते हैं! उसे मैं देखना चाहती थी, और न जाने मैंने क्या क्या सोच रखा था! लेकिन मेरे तमाम अरमान अधूरे ही रह गये। उनके पिता का अचानक टेलिग्रेम आया! ये बुजुर्ग लोग भी कैसे अजीब होते हैं! बच्चों की खुशी उनसे देखी ही नहीं जाती! यदि अक रोज के बाद वे टेलिग्रेम भेजते तो हमें सैर के प्रोग्रैम से वंचित न रहना पड़ता! और मैं पूछती हूँ कि यदि ये साहब अपने पुत्र को अतना चाहते थे, तो विगत पच्चीस साल में, उससे मुलाकात के लिये यह महाशय अक बार भी यहाँ क्यों नहीं पधारे!

गाड़ा की घंटी बजी। मैंने अशोक से कहा, 'देखिये, देरी मत लगायिये! जल्द... बिलकुल जल्द ही आयिये...'

उन्होंने मुस्कराकर कहा, 'देखें, अब पिताजी का क्या काम है — सब कुछ उसी पर निर्भर है'।

उनकी बात काटकर मैंने कहा, 'वे आप को औरान ले जाना चाहते हैं...'

'तो यहाँ अनिकार किसे है? खुशी से चले जायेंगे।'

‘तब आप के पिताजी से तीन टिकटों का प्रबंध करने के लिये कहिये ।’

अशोक ठठाकर हँस पड़े । मैं भी हँस पड़ी । गार्ड ने सीटी बजायी, हरी झंडी भी दिखायी, गाड़ी चल दी...और उसी क्षण मैंने चुपके से अशोक के हाथ से उनका रुमाल खींच लिया । उनके अस्पष्ट शब्द मुझे सुनायी दिये — ‘क्या...चोर चोर कर — नारा लगाकर गाड़ा रोकने के लिये जंजीर...’

गॉर्की का ‘माँ’ नामक उपन्यास दुबारा पढ़ने के लिये अशोक ने एकबार मुझ से कहा था । उस वक्त मैंने भी दिल्लगी ही के स्वर में कहा था, ‘क्या, ‘पत्नी’ नामक कोई उपन्यास आपके पास नहीं है ? यदि हो, तो माँ दुबारा पढ़ने के पहले मैं उसे ही पढ़ना चाहती हूँ...’

स्टेशन से घर लौटते ही मेरे अर्दगिर्द जैसे घनघोर अुदासीनता छा गयी । उस पार के कमरे में मौसी और चिंतोपंत में हँसी-दिल्लगी हो रही थी । उसे सुनकर मुझे वृणा आने लगी । सोचा, काश, इस वक्त मैं अपने कानों में रुई ठूस लेता ।

गॉर्की की ‘माँ’ लेकर मैं चुपचाप आरामकुर्सी पर लेटी । पहला पन्ना खोला, पढ़ने की कोशिश की — लेकिन उस पन्ने पर छपे शब्दों का अर्थ ही मेरी समझ में नहीं आ रहा था ! उस स्थल पर मुझे शब्द दिखायी ही नहीं दे रहे थे ! मेरी आँखों के सामने तो अशोक की मूर्ति खड़ी थी । इस वक्त गाड़ी कौन से स्टेशन पर होगी ? अशोक को मेरी याद आती होगी या नहीं ? क्या उन्होंने अपना संदूक खोला होगा ! यदि खोला होगा तो बिल्कुल ऊपर की ओर ही रखा, टॉफी का पैकेट देखकर उन्होंने क्या सोचा होगा —

कितनी मधुर कल्पनाओं पर मेरा मन तरंगित हो रहा था ! तभी हाथ में रखी पुस्तक की ओर मेरा ध्यान गया । इस उपन्यास की ऐसी कौनसी विशेषता है जिसने अशोक को इस कदर प्रभावित किया है ? क्या, इसलिये कि इस उपन्यास की माँ अपने बच्चों को बेहद चाहती है ? लेकिन ऐसी कौन माँ होगी जो अपनी संतान को चाहती न हो ? मेरी माँ के लिये काला अक्षर मैं बराबर है । जवाहरलालजी का नाम

तक उसने सुना नहीं है। क्रांति शब्द का अर्थ तक वह नहीं जानती। लेकिन इस के बावजूद भी, मुझपर उसका प्यार इस उपन्यास की माँ के प्यार से अंच मात्र भी कम नहीं है। तब इस उपन्यास में आखिर ऐसी कौन-सी विशेषता है, जिसने अशोक को इस तरह प्रभावित कर दिया है।

अशोक के कमाल से पसीना पोंछते हुअे मेरे शरीर पर मधुर रोमांच हो आये। हमारे घर में तोता नहीं है। वरना, मेघदूत के यक्ष की पत्नी के समान मैं भी उससे जरूर पूछती, 'आत्माराम ! क्या, तुम्हें भी कभी अशोक की याद सताती है ?' साल दो साल पहले संस्कृत कवियों के लिखे प्रेम के वर्णन सुनकर मुझे हँसी आती थी। मैं सोचती, काव्य रचनेवाले और बुराभी करनेवाले — दोनों एक-से होते हैं। बिना अत्युक्ति के अिनके दिल को तसल्ली ही नहीं होती। लेकिन अब लगता है कि काव्य तो कलभी उतरा शीशा है जिस में मनुष्य का वास्तविक मन कभी पूर्ण अंश से प्रतिमान होता ही नहीं !

आज की सैर तो खैर, रह ही गयी। अब अशोक वापिस भी आयेंगे, तो उन्हें आश्रम के काम के लिये दुबारा दौरे पर जाना होगा। फिर तो ठीक कॉलेज शुरू होने के समय ही वे लौटेंगे। परसों तो कह रहे थे कि आश्रम के लिये कुछ नये कमरे बनवाने होंगे, अतः अब के खूब भीक माँगनी पड़ेगी। और, एक बार कॉलेज शुरू हो जानेपर तो कुछ न पूछिये। तब तो अशोक और घड़ी में कोअी अंतर ही नहीं रह जायगा। सबेरे स्वाध्याय, दोपहर में कॉलेज, शाम को आश्रम — यदि उनसे हमेशा मिलना हो तो पुष्पा को आश्रम ही में जाकर रहना होगा।

सोचा था, कम-से-कम छुट्टी के दस-पंद्रह दिन में तो, अशोक के सहवास का सुख पा सकूँगी। लेकिन कॉलेज की छुट्टी और अशोक के पिताजी के आने का एक ही मुहूर्त निकला। और अब तो उनका पचीस साल का प्रेम-प्रवाह जो अवरुद्ध है। वे क्या अपने सुपुत्र को अितनी जल्द थोड़े ही छोड़ेंगे।

और अशोक से इसकी शिकायत करना भी बेकार है। मैंने उन से एक बार कहा था, कि सबेरे अुठते ही मुझे तो हरअेक दिन सोने का सा

लगता है। तब उन्होंने तुरंत ही कह डाला, 'तब तो सूर्य की किरणें शरीर पर पड़ने के अनंतर ही तुम अउठती होगी।' तब मैंने कहा, 'जी नहीं। निद्रा के बीच मनुष्य किसी अनोखे ही जगत् में संचरण करता है... आँख खुल जानेपर वह इस जगत् में आ पहुँचता है, और इस प्रकार आँख खुलते ही, मुझे पहले पहल याद आती है सिर्फ आपकी...और उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि जगत् में सिर्फ दो ही व्यक्ति हैं — अशोक और पुष्पा।

अनुके चेहरे से पता चला कि मेरी बात सुनकर वे खुश हुए। लेकिन साथ ही साथ उन्होंने कहा, 'पुष्पा, मनुष्य के दो जगत् होते हैं। एक में वह स्वयं सम्राट् है — लेकिन दूसरे में उसी सम्राट को किसी का सेवक बनना पड़ता है।'।

वे जब इस तरह कुछ कहने लगते हैं, तब मैं सकपका जाती हूँ। समुद्र देखने में कितना सुंदर दिखायी देता है! लेकिन उसे देखते ही, उस में कूदकर, उस पार चले जाने का साहस हम में नहीं होता है। हमें डर-सा लगता है। मेरा भी वही हाल था। अनुके शब्दों की ओट में छिपे वास्तविक मन को तलाश करते हुए, मैं किसी अजीब-से डर का अनुभव करने लगती हूँ।

एक दिन की बात है। बिगत तीन-चार दिन में वे मुझसे मिल नहीं पाये थे। हमारी मुलाकात होनेपर मैंने कुछ झल्लाहट के ढंग में कहा, 'असमें तनिक भी संदेह नहीं कि प्रेम अंधा होता है!'

असपर उन्होंने पूछा, 'ऐ? सच कहती हो?' यह कहते हुए अशोक की मुद्रा किसी अबोध शिशु के जैसी प्रतीत हो रही थी।

मैंने कहा, 'प्रेम अंधा होता है तभी तो वह कभी कभी अपने प्रियव्यक्ति तक के घर की राह भटक जाता है।'

वे पलभर मुस्करा दिये। लेकिन बाद में मुझे वह व्याख्यान सुनाया कि वैसा व्याख्यान कभी क्लास में भी उन्होंने न सुनाया होगा। कहने लगे 'कअर्यों की प्रीति आत्मप्रीति ही होती है — अपने प्रिय व्यक्ति के सहवास की इच्छा तो स्वत्वाधिकार ही का एक दूसरा रूप है...' इस तरह, न जाने क्या क्या उन्होंने कह डाला। आजकल मनोविज्ञान-शास्त्र तो, कल्पना में भी न आ

सकनेवाली अलझनें सुलझाने की चेष्टा कर रहा है। इसपर अशोक ठहरे इस शास्त्र के प्रोफेसर ! तब वे जो कुछ कहें, थोड़ा ही है।

बंबाई पहुँचते ही चिठी भेजने का उन्होंने वादा किया था। अतः मैं तीसरे दिन सबेरे कितनी जल्दी उठ गयी थी। किंतु डाक क्या केवल मेरे लिये, जल्दी थोड़े ही आनेवाली थी। लेकिन तब भी सोचा, कि डाकिया आने में देरी भी लगा सकता है। दिल में यह ख्याल आते ही मैं ही उठकर डाक-घर को चल दी। पर वहाँ पहुँचने पर जब पता चला कि डाकिया अभी अभी पाँच मिनट पहले ही डिलिवरी के लिये निकल गया है तब मुझे उसपर बेहद गुस्सा आया।

चुपचाप घर आकर बैठे बैठे पोस्टमन का अन्तर्जार करने लगी। उस पार के बँगले के निकट उसकी साभिकिल दिखायी दी। मेरा कलेजा धड़कने लगा। अशोक ने चिठी में क्या लिखा होगा। अपनी चिठी में उन्होंने कहीं ऐसा तो नहीं लिखा होगा कि, 'पुष्पा, गाड़ी चल देते ही, तुमने जिस तरह चुपके से मेरे हाथ से रुमाल खींच लिया, ठीक उसी तरह, काश, मैं तुम्हें ही, चुपके से अुठाकर अपने साथ रेलगाड़ी में बिठा लेता !...'

लेकिन डाकिया तो हमारे बँगले को छोड़कर आगे ही बढ़ गया। उसने हमारे बँगले की ओर अेक नज़र देखा तक नहीं। मैंने सोचा, यह बड़ा जल्दबाज़ मालूम होता है। अब इसे मेरी चिठी देने के लिये और अेक बार इस मुहल्ले का चक्कर काटना पड़ेगा।

लेकिन जैसा कि मैंने सोचा था, उस डाकिये को क़तभी चक्कर काटना न पड़ा। अशोक पर मैं बेहद झुंझला उठी। उन्हें सबक सिखाने के लिये, फोन द्वारा बात करने के निश्चय से मैं घर से निकली। लेकिन तभी, सोचा कि लंबे अर्से के बाद अपने पिता से मुलाक़ात करने गये हैं और इस खुशी में अपनी पुष्पा के नाम दो पंक्ति की अेक चिठी लिखने का उन्हें स्मरण न रहा हो। अब कहीं ऐसा न हो, कि फोन करने पर नारसिंहाश्रम के मैनेजर से यह जवाब मिले कि बाप-बेटे दोनों अेक लड़की देखने के लिये कहीं बाहर गये हैं। तो...

आधे रास्ते से ही मैं घर लौट आयी। लेकिन घर पर पहुँचने के

पहले, सहसा खयाल आया कि हो सकता है कि मौसी के हाथ में पडने के डर से, अशोक ने शायद चिड़्ही मेरे घर के पते पर न भेजते हुअे अुनके अपने पते पर ही भेजी होगी । हाँ ! मेरा अनुमान ज़रूर सच साबित होगा । लेकिन अुस पत्र को पाते ही अुसे मेरे पते पर पहुँचाने की अकल चंदू में कहाँ है । अुसमें अगर अितनी सूझबूझ होती तो बेचारा मामूली नौकर क्यों बनता !

लगभग दौड़ती-सी मैं अशोक के घर पहुँची । देखा तो दरवाज़ा खुला ही था । जो बैग अपने साथ बे ले गये थे, अुसे सामने ही देखकर मैं हैरान रह गयी । अितने में चंदू भी आ पहुँचा । मैंने अुससे यूँ ही पूछा, 'क्यों चंदू, क्या अशोकबाबू की कोअी चिठी आयी है ?'

'साहब ही स्वयं आ गये हैं, देवीजी !'

मैं जानती थी कि अशोक ने अपनी बैग कुछ पोस्ट द्वारा तो नहीं भेजी होगी ! लेकिन तब भी, चंदू के अुस जवाब को सुनकर मैं झुंझला उठी ।

'कहाँ गये हैं तुम्हारे साहब ?'

अुसने पलभर मेरी ओर विचित्र भाव से देखा; क्योंकि अशोक को 'साहब' कहने का यह मेरा पहला ही मौका था ।

अुसने कहा, 'वे तो आश्रम गये हैं ।'

मैं अशोक के घर से बाहर निकली और अुसी क्षण मुझे अैसा महसूस होने लगा कि जैसे मेरा दम घुट रहा हो । जी चाहने लगा कि कहीं अेन्कात में बैठकर खूब जी भरकर रो लूँ ! तुरंत सोचा, मैं क्यों अिस तरह आँसू बहाऊँ ? क्या अशोक पर मेरा कोअी हक ही नहीं है ! मैं अभी आश्रम में जाऊँगी और अुन्हें अपने साथ लिवा लाऊँगी ।

क्रोध के आवेग में मनुष्य कोअी भी काम शायद झटपट कर बैठता है । कितनी शीघ्रता के साथ मैं आश्रम में पहुँच गयी ! वहाँ पता चला कि अशोक अपने कमरे में बैठे हैं । कमरे के किवाड़ भिड़े हुअे थे । मैंने सोचा, चितोपंत और अशोक भीतर बैठकर आश्रम के हिसाब की जाँच कर रहे होंगे । मैंने दरवाज़ा खोला । भीतर दो ही आदमी थे । अुनमें से अेक थे अशोक और दूसरी थी — एक सुंदर लड़की !

अँधेरे में किसी शीतल, मुलायम वस्तु को छू जानेपर साँप की आशंका

से मनुष्य के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। मेरा भी ठीक वही हाल हुआ। मैं अुस्टे पैरों लौट ही रही थी कि मेरी ओर देखकर अशोक ने कहा, 'पुष्पा ! तुम ? आओ न भीतर !'

मैं भीतर गयी ! उस लड़की की ओर अिशाारा करते हुअे अशोक ने कहा, 'यह है तारा। मैंने उस रोज़ अिसके बारे में कहा नहीं था तुमसे ? और तारा, अिसे जानती हो तुम — ?'

यह सुनकर मुझे गुदगुदी-सी हुअी; लेकिन पलभर ही ! दूसरे ही क्षण वह गुदगुदी चिकोटी में बदल गयी। क्योंकि अशोक ने अिसके बाह् कहा, 'यह है पुष्पा ! मेरी प्रिय छात्रा।'

काश ! अशोक अुन अंतिम शब्दों का उच्चारण ही न करते।

तारा ने मुझे नमस्ते किया। अुसे प्रति नमस्ते करते हुअे मैंने अशोक से कहाँ, 'मैं आपको अपने साथ ले जाने के लिये आयी हूँ।'

'कहाँ ?'

'कहीं घूमने टहलने के लिये।'

'अितनी कड़ी धूप में ?'

'मेरी तबियत !'

'मालूम होता है दो दिनों में तुम्हारी तबियत ने बहुत ज़ोर पकड़ा है।'

'गुरु की विद्या क्या शिष्या को नहीं सीखनी चाहिये ?'

'पर बाबा, मेरी तबियत कहाँ ऐसी अुलझी है ?'

'नहीं कैसे ! आते ही आप सीधे आश्रम जो चले आये —'

अशोक ने मेज़ पर के तमाम कागज़ तरतीब से रखे, खूँटी से अुतारकर कोट पहना, और तारा से कहा, 'अब तुम जा सकती हो।'

तारा की ओर विजयी मुद्रा से देखते हुअे, अशोक को अपने साथ लेकर मैं आश्रम से बाहर निकली। लेकिन मेरा वह विजयोल्लास अधिक देर तक न टिक सका। मैं जहाँ जहाँ जाती, अशोक मेरे पीछे पीछे आ रहे थे। लेकिन अुनके मुँह पर तो जैसे किसी ने ताला लगा दिया था। कुछ छेड़छाड़ करने के अिरादे से मैंने पूछा, 'बंबअी से आते हुअे क्या क्या खरीद लाये ?'

‘कुछ भी तो नहीं।’

‘नहीं कैसे ! अक नया ताला जो दिखाभी दे रहा है।’

मुस्कराकर उन्होंने कहा, ‘ओह ! लेकिन उस ताले की चाभी कहीं खो गयी है।’

‘चाभी खो जानेपर ताला तोड़ना पड़ता है। शायद अिसे आप जानते ही होंगे।’

‘तो अिसका मतलब यह हुआ कि आदमी अगर न बोले तो उसका मुँह तोड़ देना चाहिये। क्यों ? भभी, तुम्हारी तरकीब तो बहुत बढ़िया है।’

तब भी, उनकी मुद्रा पर गंभीरता जैसी की वैसी ही बनी रही। मुझ से चुप न रहा गया।

मैंने कहा, ‘शायद बंबाी में कोअी विशेष घटना घटी है।’

‘हाँ।’

‘मैं बाताऊँ क्या बात है ? ... आपके पिताजीने आपका ब्याह तय किया है ... और आपको वह पसंद नहीं।’

‘तुम्हारा खयाल बिलकुल ठीक ही है।’

बाजी मुझ ही पर पलट रही थी। कँपित स्वर में मैंने पूछा, ‘अस खुशनसीब लड़की का नाम क्या है ?’

‘खुशनसीब या बदनसीब ?’

मैं उनकी ओर देखती ही रही !

अशोक ने कहा, ‘मेरे पिताजी स्वयं ही अस लड़की से ब्याह करना चाहते हैं।’

मेरे सीने से जैसे बड़ा भारी बोझ अुतर गया। टहलते हुअे हम अमराअी तक आ पहुँचे। मैं किसी तरह अशोक को हँसाना चाहती थी। मैं झट से अेक आम के पेड़ पर चढ़ गयी। नीचे से अशोक ने कहा, ‘सम्हालो पुष्पा, कहीं अूपर से गिर पड़ी तो मुसीबत होगी...’

दो डालियों के बीच से, गिलहरी के समान मुडकर देखते हुअे मैंने कहा, ‘डरिये नहीं ! नीचे गिरने पर भी मुझे कोअी चोट नहीं पहुँचेगी—’

‘वह क्यों ?’

‘क्योंकि नीचे धरती पर तो मैं गिरूँगी ही नहीं ! मैं तो किसी की—’

‘आज तो तुम बिलकुल नादान बच्ची ही बनी हो ।’

‘यदि कोअी व्यर्थ ही बूढ़े बाबा बन जाँय तो और कोअी बच्चा क्यों न बने ?’

अमियाँ तोड़ने के लिये मैं और अूपर चढ़ी । मेरा ख्याल था कि अशोक भी मेरे पीछे पीछे अूपर चढ़ेंगे । लेकिन वे तो मिट्टी के पुतले जैसे, नीचे चुपचाप खड़े थे । अमियाँ तोड़कर मैं नीचे अुतरी और चाकू निकालने के लिये अुनकी जेब में हाथ डाला तो अेक पुर्जा हाथ में आया । चाकू के साथ अुसे भी मैंने बाहर निकालकर देखा तो किसी की चिठी थी । कौतुहल वश चिठी पढ़ने लगी...और अुसे पढ़ते ही, बिना अमियाँ खाये ही मेरा जी अैसा खट्टा हो गया कि कुछ न पूछिये — वह चिठी तारा की थी । लिखा था — ‘अेक रोज़ भी आपके दर्शन से वंचित रही, कि मेरा धीरज छूटने लगता है । ...’

तो क्या, अभी अभी, जब मैं आश्रम में गयी तब भी, शायद दोनों में अिसी तरह प्रेमप्रलाप ही चल रहे थे ?

संदेह ! संदेह के कारण निर्माण होनेवाला क्रोध भी बड़ा अजीब होता है । वह चिठी मैंने अशोक के सामने फेंक दी और अुनकी ओर पीठ फेरकर, अुसी क्षण वहाँ से चल दी —



७

अ शो क

पुष्पा नाराज होकर चली गयी जिसमें अचरज की बात ही क्या है ! पर मुझे तो सच भी अपने खीसे में किसी ऐसे पत्र के होने का पता तक न था । मैं यह बात उससे कहता भी, तो वह सपनेमें भी सच न मानती । और मैं उस पत्र को पढ़ूँ, तब तक तो वह तेज़ी से चली भी गयी ।

संशय जितना जल्दी जड़ पकड़नेवाला विषवृक्ष कोभी और नहीं है । भला बंबड़ी से कितनी विक्षुब्ध मनःस्थिति में मैं वापिस आया था । और मन की विषम वेदना को भुला देने के लिये ही, किसी काम में जुट जाने के भिरादे से आते ही मैं तुरत आश्रम चला गया । वहाँ तारा की फरियाद चिंतोपंत के खिलाफ होने से उसे सुनने के लिये किवाड़ बंद करना निहायत ज़रूरी था । पुष्पा को अिनमें से अेक भी बात का सही पता नहीं । और हो भी, तो पुष्पा याने निरी फुलपाँखुरी । उसे भला जगत् के काँटों की कल्पना ही कहाँ है ।

मनुष्य दूसरे के बारे में कितना शीघ्र साशंक होता है !

परंतु तारा को भी अितना विचित्र पत्र आखिर मेरे खीसे में क्यों रखना चाहिये !

मैं तुरंत ही लौटकर आश्रम गया, और तारा को अपने कमरे में बुलाकर वह पत्र उसके सामने रखा तो वह पलभर तो स्तब्ध रही, किंतु जैसा कि इस बारे में मेरा खयाल था, वैसे वह ज़रा भी रो-धी-धी नहीं। न तो उसने कोई ऐसी सफाई ही दी कि 'यह पत्र मैंने नहीं लिखा है' उसके इस रुख पर एक बार तो मैं भी स्तब्ध रह गया। परंतु शीघ्र ही संभलकर मैंने उससे पूछा, 'आश्रम के नियम जानती हैं न तू?'

'हाँ!'

'फिर ऐसा पत्र क्यों लिखा?'

तब मुझे घूरकर बोली, 'आप तो मनोविज्ञान के प्रोफेसर हैं न?'

'तो फिर?'

'यही कि विधाताने आपके आश्रम के नियम पढ़कर मेरा मन कुछ नहीं गढ़ा।' मैं स्तब्ध होकर उसकी ओर देखता ही रह गया तो वह बोली, 'बतलाइये, प्रेम करना मनुष्य के मन का धर्म है या गुनाह?'

उसे बनानेवाला विधाता भी अगर उस समय वहाँ होता तो शायद वह भी इस प्रश्न का सही उत्तर न दे पाता। अतः मैं अब भी स्तब्ध ही रहा।

तारा के होंठ थरथर काँप रहे थे, आँखें पागलों की सी लगती थीं। उसके अंतस् में संचित दुख सहसा फूट पड़ा। शिखर से खिसलनेवाले पानी के प्रवाह की तरह उसकी ज़बान से शब्द निकल रहे थे।

'अगर, आपने लड़की का जन्म लिया होता, अगर आपके घरवालों ने आपको किसी बूढ़े को बेच दिया होता और उस बूढ़े ने अपनी वंशवेल बढ़ाने के लिये चाहे जिस जानवरको उसके पास भेजा होता तो —'

उसे शांत करने के लिये मैंने कहा, 'तारा'—

'मुझे रोकिये मत अशोक! मैंने आज तक अपनी कष्टकथा किसी को कही भी नहीं, और आज से आगे शायद किसी को कहूँ भी नहीं—सिर्फ आपको आज सुनाना चाहती हूँ। जब उस बूढ़े की मैंने कोई बात न मानी तो उसने मुझे बदचलन बताकर घर से निकाल बाहर किया। मैं मिडिल तक पढ़ी थी, अतः मैंने मास्टरनी बनकर पेट भरनेकी सोची, पर अंतिम में कहीं भरी ब्राह्मणजाति बाधक बनी तो कहीं चालचलन। कोई

प्रमाणपत्र न होना आड़े आया। प्रमाणपत्र पर मनुष्य की चरित्र-परीक्षा का जमाना है, आजकल। अंत में अंक राज्य में मुझे नौकरी मिली भी तो जिस अिन्स्पेक्टर ने वह नौकरी दिलायी थी उसकी आँखों में मुझे कामकूट नज़र आया। परंतु मुझे भूखों नहीं मरना था।

किंतु उसकी कारगुजारियों का शिकार न बनने पर मैं तुरंत ही अंक बुरी मास्टरनी ठहरा दी गयी, मेरी नौकरी छूट गयी। कुछ दिन भीख माँगकर भी गुजारे, परंतु किसी जवान भिखारिन का शील भी आज के जगत में सुरक्षित नहीं। अंत में हैरान होकर मैंने आत्महत्या का निश्चय किया, किंतु इस जगत् में कुछ जीने लायक भी है यह भी विधाता को मुझे दिखाना था, इस बीच मुझे आपके आश्रम का पता चला, और मैं यहाँ आ गयी तब तुम्हें प्यार करने लगी।’

‘ किंतु मैंने क्या अंक शब्द भी कभी तुझे — ’

‘ तुम तो जिस प्रकार की ममता सभी लड़कियों पर रखते हो मात्र वैसी ही मुझपर भी रखते रहे। पर मुझे जो जीवन में पूजने के लिये अंक देवता की आवश्यकता थी, वह मिल गया। ’

तारा के विवरण में, उसने अपना हृदय खोलकर जो प्रदर्शित किया, तो मूर्तिमंत सत्य नज़र आया।

तब मैंने शांति के साथ उससे पूछा, ‘ तो यह पत्र तूने मेरे जेब में क्यों डाला ? ’

‘ मैंने नहीं डाला। ’

‘ तो फिर किसने डाला ? ’

‘ शायद यह उस चितोपंत की चातुरी हो। क्योंकि वह आश्रम की लड़कियों को कैदी ही समझता है। उनपर वह सदैव सतत सतर्क पहरा रखता है, फिर कैदियों में भी तो पक्के गुनहगार कुछ थोड़े ही होते हैं, सभी नहीं, है न ? ’

असपर तारा हँसी। किंतु इस समय वह हँसने के बजाय रोभी होती तो शायद मेरे मन की अलझन कुछ कम हो जाती। मात्र पाँच ही मिनट वह बोली, पर अिन पाँच मिनटों में तो उसने नारी पर पीढ़ियों से होनेवाले जुल्मों पर कितना बेधक प्रकाश डाला। तब आश्रम में आनेवाली औरत के

मन में प्रेम पैदा होना गुनाह है क्या ? कितना कठिन प्रश्न है यह ? अनाथा-श्रम चलाना कोभी लूली लंगड़ी गौंअे पालने का पांजरापोल नहीं है । हम आश्रम चलानेवाले, आश्रम का मदद करनेवाले और समाज का सुधार चाहनेवाले सभी मानते हैं, कि दया के समान कोभी दूसरा धर्म नहीं किंतु दया शायद जानवरों के बारे में भले ही धर्म हो, आदमियों की बाबत तो केवल एक ही धर्म हो सकता है और वह है आजादी !

तो तारा एक बूढ़े की पत्नी थी । उसका वह कटु अनुभव और उसके तीव्र शब्दों के घन की चोट माथे में लगने लगी । अतः मैंने निश्चय किया कि चाहे कुछ भी हो पिताजी का वृद्ध-विवाह हरगिज़ न होने दिया जाय । उस सुशीला का पता तो अनायास ही मेरे हाथ लग गया था । यदि मैं उसे अपना असली परिचय दूँ तब तो वह समझेगी, कि यह हज़रत चाहते हैं बाप की वरासत अकेले अन्हें ही मिले, अिसीलिये सारी चेष्टा है । किंतु उसे अपना परिचय बिना बताये भी तो उसका मन फेर देना संभव है ।

रात को दस बजे पता लगाता मैं उसके घर पहुँचा । किंतु आज का दिन कुछ करामती था, पुष्पा बिना पूछे ही छोड़कर चल दी, ताराने मेरे मस्तिष्क में विचारों का तूफ़ान खड़ा कर दिया और अब यह तीसरी औरत थी, जिसने सोचा होगा कि अितनी रात गये घर में घुसनेवाला यह आदमी ज़रूर कोभी बदमाश है ।

एक ओर एक छोटी बच्ची सो रही थी, उसके सिवा उस घर में और कोभी न था । मैंने सोचा अकेले में अिसे भलीभाँति समझा सकूँगा, अतः मैंने उससे कहा कि, ' सुशीलादेवी, ढरिये मत, मैं आपका एक हितैषी ही हूँ ' । किंतु उसने मुझे अुलट के अुत्तर दिया कि ' अपना अन्धछा बुरा समझने की शक्ति मुझमें है, और मेरा भाअी बाहर गया है, यह सोचकर अितनी रात गये घर में घुसनेवाले हितैषी की मदद मुझे नहीं चाहिये । '

मैं अगर कुछ अधिक बोलता तो यार-पडौसियों को शायद वह हेली भी दे डालती । अतः मैं तुरंत ही अुलटे पैरों लौट पड़ा । अिसलिये मेरे बारे में उसकी राय कुछ बदलीसी भी नज़र आयी ।

अतः उसने आगे आकर पूछा कि - ' क्या काम है आपको मुझसे ? '

‘ दासोपंतजी से आपकी शादी तय हुआ है न ? ’

‘ और आपकी शादी किससे तय हुआ है ? यह आप बतायेंगे क्या ? ’

‘ ग़लत न समझे, परंतु दासोपंतजी और आपकी आयु में बहुत अंतर है । ’

‘ यह मुझे भलीभाँति मालूम है । ’

‘ और उनका एक लड़का भी है, जो अमुम में आपसे भी बड़ा है । ’

‘ यह भी मुझे मालूम है । ’

तब मैंने सोचा, अपनी निंदा करने से कुछ काम निकले, अतः मैंने कहा कि ‘ वह लड़का बहुत बदमाश है । ’

‘ हाँ, यह मैंने नहीं सुना था । ’

‘ अजी, बदमाश भी कैसा ? बहुत ही बदमाश है वह ? ’

‘ याने क्या, उसने किसी का कत्ल-वत्ल कर डाला है ? ’

‘ नहीं । सो तो नहीं । किंतु कुल मिलाकर वह आदमी अच्छा नहीं । ’

‘ विचारा बहुत भला होगा तब तो ? — ’

‘ सो कैसे ? ’

‘ इसी से कि आप उसकी अितनी निंदा कर रहे हैं, लेकिन लेनादेना क्या है आपको इस अठापटक में ? सुनिये, मैं जो शादी करूँगी तो उस बूढ़े से ही करूँगी, वरना आजीवन कुंवारी रहूँगी । ’

एक अंतिम प्रयत्न और करते हुआ मैंने कहा, ‘ किंतु बलि बननेवाली स्त्री को बचाना क्या गुनाह है ? ’

असपर उसने सरोब अँचे स्वर में कहा, ‘ किसने कहा आपसे कि मैं बलि बन रही हूँ । जानते हैं आप, यह शादी तय होने से मुझे कितनी खुशी है ? ’

अब एक शब्द भी आगे न कहकर मैं चल पड़ा । किंतु ये सोचना कठिन था कि यह औरत ग़रीबी के कारण अपने आपको बेच रही है या अपने मनमाने चोचले पूरे करने की हविस से मालदार बूढ़े से विवाह करने को आमादा है ।

बड़ी आशा से घर आया, सोचा कि शायद पुष्पाने फ़ोन-बीन किया होगा ? चंदू से दरवाजे में घुसते ही पूछा तो उसने भी हाँ कहा, तो तुरंत ही मन में आया कि इतनी रात गये भी क्यों न पुष्पा से फ़ोन पर बातें की जाय ? ’

परंतु आने वाला फ़ोन पुष्पा का न था, शायद किसी का ग़लत नंबर लग गया था ।

दो-तीन दिन में आश्रम के लिये दौरे पर जाना था, परंतु आज एक दिन में ही मन अितना अस्वस्थ हो गया था कि उसे स्वस्थ बनाने के लिये किसी काम में जुट जाना बहुत ज़रूरी था । अतः दूसरे दिन सबेरे ही मैं निकला, पुष्पा से भी मिलना ही था । पर सोचा, दौरे से वापिस आने तक गर्भियाँ समाप्त हो जायँगी ! अतः वातावरण स्वयं ही शीतल हो जायगा !

लगभग दो महीने तक मैं घूमता रहा । अस वीच कितने ही गाँव देखे, अनेक लोगों से पहचान हुअी । सैकड़ों व्यक्तियोंने मेरे व्याख्यान सुने, आश्रम को चदा भी काफ़ी मिला । आश्रम के विवरण में अस दृष्टि से अशोक का दौरा अत्यंत सफल समझा जायगा । परंतु मेरे मन में जो एक बात चुभती थी, उस चुभन के मूल पर मैंने विचार करके देखा ।

पहला शूल था — मानहानि । मनुष्य शायद स्वार्थ छोड़ दे पर स्वाभिमान नहीं छोड़ सकता । ग़रीबों को चूसकर ग़बर बनने वाले मालदार अथवा किसी पहुँच के कारण बड़े वेतन वाली नौकरी पाने वाले किसी अधिकारी के दरवाजे पर घंटों बैठना कितनी शर्म की बात है ! कारण कि अुनके पास पैसा है, समाजसेवक के पास वह नहीं । पर असका परिणाम कितना विपरीत होता है । निःस्वार्थी मनुष्य को भी संस्था के लिये क्यों न हो हँ जी हँ करनी पडती है । समाजकंटकों के सामने भी अुन्हें सर झुकाना पडता है । सेवक की विद्वत्ता, सिद्धान्त और त्याग का आज के सांसारिक बाज़ार में कोअी कीमत नहीं ।

अितना करने पर भी जिस संस्था के लिये वह भिखारी की भाँति दाता के पीछे पडता है, गाँवोगाँव फेरीवाले की तरह फिरता है, मालदारों के दरवाजे पर धरना देकर अड जाता है, वह संस्था भी कोअी क्रांतिकारी कार्य करती है क्या ? अब आश्रमने अगर बीस-पचीस अनाथ औरतों को सँभाल भी लिया तो क्या अुससे समाज की सदस्यों अभागिनियों के अश्रु कहीं थमते हैं ? वे तो बहते ही रहते हैं ।

अच्छे पढ़े-लिखे लोगों के घर में भी कितनी विलक्षण बातें देखने में आती हैं। बड़ा भाई विवाह करके अपनी पत्नी के साथ आनंद करता है। यह देखकर बालविधवा छोटी बहन घुटघुट के दिन निकालती है। अपनेको सुधारक बताने के बहाने बूढ़ी माँ को भी यों तो दान-पुण्य के लिये दो पैसे देना दूभर है। अधर सात-आठ बच्चे जनने के बाद औरत हड्डियों का ढाँचा रह जाने पर भी पतिदेव अपने मन को रोक नहीं पाते। संतति-नयमन नाम का भी कोई उपाय इस संसार में है, इससे उन्हें क्या वास्ता? मर्दों की जीभ का चटोरापन शांत करने के लिये चतुर औरतें रात-दीन अपने आपको रसो-धी-घर में गोधे रहती हैं। मानो भोजन ही मनुष्य-जीवन का ध्रुव-ध्येय हो।

भावी पीढ़ी की माता तथा वर्तमान पीढ़ी की गृहिणी उनका भला फिर जैसे जीवन में क्या विकास होगा? और जबतक अनका कोई विकास नहीं, पुरुष का मानसिक संसार भी भला क्या सुखी होगा?

थोड़ी-सी भी वायु बहने पर जैसे पवनचक्की चल पड़ती है न? इस प्रवास में मेरी भी वही दशा हुई। एक एक छोटे से छोटे दृश्य द्वारा मेरे मन में विचारों की अुत्ताल तरंगें अुठने लगतीं। मैं सोचता, हमारी सेवा अभी सबल नहीं बनी। हम अपने आपको धाखा दे रहे हैं; जान हथेली पर लेकर लड़ने की ज़रूरत होने पर भी हम सुलह कर रहे हैं। शत्रु की शरण जा कर नामोशुभरी संधि कर रहे हैं।

विचारों का यह तूफ़ान कभी कभी असह्य हो अुठता। मन में आता, चलो, पुष्पा से ही मिल आयें। परंतु वहाँ पिताजी का विवाह जो था। और प्रवास में किसी किसी बार जैसे जैसे अनुभव होते कि उनसे मन की निराशा की छाया कहीं की कहीं काफ़ूर हो जाती।

एक दिन एक सालदार के घर दो घंटे निष्फल चर्चा चलाने के बाद घरवालेने मुझ यों ही टरका दिया। मैं घर से निकला कि मेरे पीठपीछे ही एक पच्चीस साल की विधवा भी बाहर आयी। वह अुस घर की लड़कियोंको पढ़ाती थी। यह मैंने बाहर निकलते वक्त देखा था। मुझे अुसे क्या काम हो सकता है? मैं सोच न सका। मुझे लगा, शायद अुसे अपने संबंध का कोअी अनाथ लड़की आश्रम में भेजनी हो। इस पर मन-ही-मन मैं हँसा भी कि यदि यात्रा में पैसों के बजाय अनाथ औरतें ही मेरे पछे पड़ीं तो?

मैं कुछ रुका तो वह औरत पास आयी, उसने मुझे प्रणाम किया। मैंने भी उसे प्रणाम किया। उसके बाद एक शब्द भी बिना बोले उसने एक रुपया मेरे सामने किया। उसे लेते हुअे मेरे अंतःकरण को तो बड़ा आनंद हुआ किंतु मेरी आँखें भीगती हुअे वगैर न रह सकीं।

और वह दो सौ रुपयेका दान ! उसकी कथा तो किसी अपन्यासकार के काम भी आ सकती है। एक गाँव में एक दिन सभा प्राप्त होने पर एक मनुष्यने मुझे दो सौ रुपये की थैली ला कर दी। उस गाँव में अतना बड़ा दान देनेवाले का नाम दीप लेना ज़रूरी था, पर पैसे देनेवाला किसी तरह नाम ही न बताता था। जब मैंने ज़िद ही पकड़ ली तो वह मनुष्य सभा में जिस ओर औरतें बैठी हुआ थी, उस ओर मुझे ले गया। वहाँ बिल्कुल एक तरफ एक औरत खड़ी थी। उसका वेश उसकी ओम्न देखते हुअे कुछ रंगीला-सा लगा। उसने शायद आँखों में काज़ल भी लगाया रखा था और पान खाने की भी उसे आदत-सी लगती थी।

मैंने उससे उसका नाम पूछा तो वह बोली, कि 'भला नाम जान कर आप क्या करेंगे ?'

'भला नाम जाने बिना मैं पैसे कैसे ले सकता हूँ ?'

असपर क्षणभर तो वह खिन्न हुआ किंतु तुरंत ही वह हँसती हुआ बोली, कि 'यदि नाम बिना बताये ही किसीने अतने पैसे मेरी माँ को दिये होते तो शायद वह इस गंदे धंधे में मुझे कभी न पड़ने देती।' ● ● ●

मुद्रा झनकार करे असलिये उसमें कासा मिलाते हैं न ? मनुष्य के स्वभाव में भी अच्छे-बुरे की ऐसी ही मिलावट होती है। और अनिमिल सूरों की मिलावट से ही तो जीवनसंगीत मधुर होता है —

पुष्पा के स्वभाव का मत्सर भी तो अिसा मिलावट की मिसाल है। मेरे पहले पत्र का उत्तर देते वक्त तो शायद वह गणित की कोअी पुस्तक ही पास रखकर बैठी होगी। दूसरे पत्र में देवीजी कुछ शांत हुआ दिखायी दी ! और तीसरा पत्र तो कोअी अपन्यास सामने रखकर उसने लिखा होगा। कितने मज़ाक में लिखा था उसने, कि 'फाउंटनपेन में स्याही भरपूर है या नहीं यह भलीमाँति देखभाल कर ही मनुष्य को पत्र लिखने बैठना चाहिये।

नहीं तो कभी कभी अंतिम का अक्षर लिखने के वक्त भी वह दगा दे जाती है ! आपने पत्र के अंत में जो ' तेरा अशोक ' लिखा, तो क्या अंक ' ही ' लिखने के लिये ही स्याही समाप्त हो गयी थी ? आपका भी भला इसमें क्या दोष ? अबके स्नेह-संमेलन में प्रोफेसरों को उपहार देते वक्त स्याही की अंक बड़ी बोतल ही आपको भेंट दी जायगी ! अंक अक्षर से भी कितना अनर्थ होता, पता है तुम्हें ? ' तेरा अशोक ' के बदले अगर ' तेरा ही अशोक ' लिखा होता तो भला और कितनी स्याही खर्च हो जाती ? '



८

दा सो पं त

आखिर उस मसूरकर ज्योतिषी का भविष्य अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ । क्योंकि लड़का स्वतंत्र न हो तबतक बाप-बेटों की भेंट न होनी चाहिये, नहीं तो दोनों में से एक के प्राणों को स्वतंत्र होना होगा ! यह उसने स्पष्ट लिख दिया था और वह सच हो कर ही रहा । आज अशोक मुझे और मैं अशोक को मरे समान ही हो गये । गधा शादी में न आया सो तो ठीक, किंतु उसने विवाह में विघ्न डालने की भी कम कोशिश नहीं की । प्रेमा उसका फोटो देखकर कह तो रही थी कि एक दिन रात को यह हज़रत उसके अधर पहुँचे थे, और जीजी को कुछ कहा भी था । जिसके बाद जीजी बहुत देर तक रोती रही । मूर्ख कहींका !

ऐसे लोगों को बेवकूफ़ बताना भी बहुत कठिन है । अंखबारों में इनके फोटो छपते हैं, लंबे लंबे व्याख्यान छपते हैं । अभी परसों ही तो किसी अखबार में अशोक का फोटो छपा था । लिखा था, किसी अबलाश्रम के लिये दौरा कर रहे हैं आप ! अधर तो अपने बाप को बाप मानने को तैयार नहीं, और अधर सारे संसार की अनाथ औरतों को अपनाने को तत्पर हैं आप ! और यह भी ठीक है । इन आजकल के नौजवानों की नज़र में सौ बाप भी एक लड़की के पासंग में नहीं लगेंगे ।

अशोक का वह फोटो प्रेमाने देखा और सुशीला को भी दिया था। वह कितनी देर तक उसे देखती रही। आखिर उसने मुझे पूछा 'यही अपना अशोक है न?' बाकई देवी है यह। परायापन तो नाम को भी नहीं है उसके पास! यह अपना सौतेला लड़का है, उसने मेरी शादी न होने देने की कोशिश की थी, आदिको भी टर्भावना उसके मन को छू तक नहीं सकी। शादी के समय का अंतर्पट दूर होने के वक्त से हमेशा हँसमुख ही दीखती है। वैसे अभी ज़रा लजाती है, पर कोभी चिंता नहीं। अब तो घर में कोभी बड़ा-बूढ़ा नहीं, तो क्या हमेशा ही उस तरह थोड़े ही लजाती रहेगी? गला भी बहुत मधुर है उसका। क्योंकि सोने के समय प्रेमा जो ज़िद करती है लोरी गाने की, अतः हमें भी पता लग गया गले के सुरीले-पन का। कभी कभी अच्छा होती है कि प्रेमा की भाँति मैं भी हठ करूँ, कि 'तेरे गाने बगैर मुझे भी नींद नहीं आती।' पर यह लाज की दीवार है न बीच में, खैर यह भी हटेगी ही। और अंक महीने में नामशेष हो लेगी।

और सुशीला प्रेमा को जो गीत सुनाती है वे भी कितने धार्मिक होते हैं। वे सिनेमाशाही गाने नहीं, जिन्हें आजकल के कच्चेबच्चे भी गलियों में ललकारते फिरते हैं। चाहे अभी नाक की रूँट पोंछना न आता हो, पर 'अस देश चलो सजनी' तो चिल्लाते ही फिरते हैं। परसों ही जब मैं मंदिर में दर्शन करने जा रहा था तो अंक छोकरा, जिसके शरीर पर फटो लँगोटी तक न थी, गा रहा था 'अंक बँगला बने न्यारा। सोने का बँगला!'

सभी जगह गधों का जमघट है। पर सुशीला सीधी-सादी देहाती है। घर को ही अपना संसार माननेवाली सच्ची आर्य स्त्री है। परसों उसका वह गाना — 'धाव पाव नंदलाल' — मैं बाहर खड़ा सुन रहा था। सुनकर मेरा अकदम गला-सा भर आया। मुझे पलभर तो ऐसा लगा कि मानों मेरा ही बालक गुम हो गया हो!

हमारे कुल-दीपक चिरंजीव यह शादी होने नहीं देना चाहते थे। याने औरान में हमने अंतरिक्ष की ओर निहारते हुए जो पच्चीस साल काटे, यहाँ आकर बाकी वय भी उसी तरह बितायें, यही शायद उसकी मशा थी।

क्यों भाजी, आखिर तेरे पेट में दर्द क्यों होता है ? मैं किसी जवान लड़की से शादी कर रहा था सो तो ठीक, पर असपर कुछ तेरा प्यार थोड़े ही था ? समाज का सुधार करने चले हैं बन्चू । अरे, कहीं कहीं लड़कियों को लड़के तक नहीं मिलते । पहले उसकी तो व्यवस्था करो । कोअी वयस्क प्रौढ़ जवान लड़कियों से शादी करें या न करें, असका कभिशन तो बाद में बिठाना ।

बाकी अशोक तो क्या ? अशोक का बाप भी अस विवाह को नहीं टाल सकता था । ब्रह्मदेव की बाँधी हुआ गौठ कहीं दर्जी की कैंची से थोड़े ही कतरी जा सकती है ? मंगल, गुरु और शुक्र तीनोंने ही जब दासोपंत का लग्नलेख लिख दिया वहाँ कोअी भी मुफ्त में अकल के तारे तोड़े तो उनका भला क्या उपयोग ? ग्रहों की ही कृपा न हो तो अितनी झटपट भला हमारे दो हाथों के चार हाथ कैसे हो जाते ?

चार ही क्यों, आठ हाथ कहने चाहिये । प्रेमा, प्रभाकर भी तो अब मेरे ही हो गये न ? छोकरी कितनी प्यारी है ! अन थोड़े से दिनों में ही मुझे अससे कितना मोह हो गया । कोअी और अगर मुझे उसके साथ देखे तो यही समझे कि मैं ही असका बाप हूँ !

यह प्रेमा अगर न होती तो शादी के बाद भी मुझे कुछ कठिनायी ही होती, क्योंकि सुशीला ठहरी लजीली और प्रभाकर रहा कॉलेज का छात्र ! किंतु यह गुड़िया होने से दिन मानों चुटकी बजाते ही कट जाता है । मैं पूजा में जब भगवान् का भोग लगाता हूँ तो यह दबे पैरों चुगचाप आकर उसे खा जाती है । तेरे गाल शक्कर से भीठे हैं कहकर उसका प्यार लेने पर कहती है कि तब तो मैं बड़ी होकर शक्कर का ही कारखाना खोलूँगी । ये आजकल के बच्चे भी बड़े चतुर हैं । पहले के लोग जो बात साठी में भी समझ नहीं आत थे, वह आजकल ये आठी में ही जान जाते हैं । अक बार स्कूल में जाते समय अस छोकरीने मुझसे कुंकुम बारीक कर देने को कहा । करता भी क्या ? बालहठ का भी क्या कोअी अिलाज है । और कल जो अस लड़कीने मुझसे बेनी बाँधने की जिद की तो समझो अपनी तो आ बनी ! और शादी के समय पृष्ठरक्षिका के रूप में भी यदि मुझे बुलाया तो ? क्या पता भला बाबा असका !

बाकी आजकल अपना समय कितना सानंद कटता है। औरान में घर बिल्कुल खाने को दौड़ता था। वहाँ, अुठते ही अेक काले-कलूटे लडके से अपना पाला पड़ता था। अब तो ऐसा अनुभव होता है कि मैं बिल्कुल गधा ही था, जो औरान में अितने दिन अकेले निकाले। बीबी-बच्चों के बिना घर, याने बिल्कुल जंगल, मरुभूमि, ज्वालामुखी ही समझो। आजकल तो मानो हम नंदनवन में हैं ! सबेरे ही स्नान करके सुंदर धोती पहिनकर, देवघर में बैठकर दो घंटे तक पूजा करना, अिसके बाद भोजन करके दो घंटे आराम, तीसरे पहर चायपान करके 'केसरी'* अथवा 'ज्ञानेश्वरी'† पठन करते हुअे लेटना। प्रेमा के स्कूल से आते ही अुसे साथ लेकर शाम को मंदिर में दर्शनार्थ जाना। सभी कुछ कैसा करघे के सूत-सा सीधा चल रहा है। सुना है चातुर्मास के लिये वे लुंगी बाबा भी यहाँ शीघ्र ही पधारेंगे। फिर तो दूध में शक्कर मिली समझो। अुनके दर्शनों को रोज़ जायेंगे। बाबा बिल्कुल अक्खड़ हैं तो भी अुन्हें कोअी सिद्धि अवश्य प्राप्त है। और वही चाहिये भी ! कोरी विद्वत्ता को लेकर क्या चाटना है ? यों विद्वान तो हमारा अशोक भी बहुत बड़ा है।

सुशीला जरा ज़्यादा लजीली है। अभी अपने साथ कुछ परायापन-सा बरतती है, यही थोड़ी मुझे शिकायत है। वरना तो अपने राज्य में सब कुछ दुस्त है ! और यह शिकायत भी क्या शिकायत है ? कल अेक बच्चा हुआ कि काफूर समझो। कहते हैं कि पहले बच्चे के साथ ही स्त्री ससुराल में बोलने लगती है !

आज सुबह सुशीला से जो थोड़ी-सी छेड़छाड़ की, वैसी बीच बीच में अवश्य होती रहनी चाहिये। क्योंकि बिना गरमी पाये बर्फ़ पिघलेगा कैसे ? सबेरे खिड़की में से जो बाग़ में देखा तो सुशीला फूलों की टोकरी लेकर घर में आ रही थी, तो अपने राम बीच के दरवाज़े के परदे के पीछे धीरे से जा दुबके। यों तो मेरे जैसे मनुष्यों का परदे के पीछे दुबक जाना भी अेक कमाल ही समझो। सुशीला अपनी धुन में थी ही, अुसने जैसे ही बीच के दरवाज़े का परदा जो हटाया तो —

※ लोकमान्य तिलक द्वारा संस्थापित मराठी अख़बार।

† संत ज्ञानेश्वरने लिखा हुआ 'श्रीमद्भगवद्गीता' का काव्यमय मराठी अनुवाद।

किसी नाटक-सिनेमा में ऐसा प्रसंग आया होता तो दर्शक तालियों की गड़गड़ाहट से हॉल गूँजा देते । सुशीला शरमाकर पीछे मुड़ी तो मैंने कहा, 'रास्ता बंद है !' तो उसने रेडिओ की ओर मुड़कर कहा, 'अपना भी क्या जाता है ? रास्ता खुले तबतक हम रेडिओ ही सुनेंगे !'

तब मैंने सोचा अगर इस वक्त यों ही इसने रेडिओ छेड़ा तो चाहे जिस स्टेशन के स्वर कानों से टकरावेंगे इसका उसे शायद पता नहीं । अतः मैंने उसके आगे होकर कहा, कि 'मुझे उस रेडिओ का नहीं, इस रेडिओ का गाना सुनना है --'

'अिश्श' (छिः)

मराठी भाषा भी कितनी मधुर है, उसे यह दो अक्षरों का शब्द साबित नहीं करता क्या ?

मैंने सुशीला से कहा कि - 'अभी तो तुम बहुत ही लजाती हो !'

तब तो वह और भी लजा गयी, तब मैंने उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा कि 'तुम्हारे आने से यह घर कैसा भराभरा दीखता है !'

उसने धीरे से मेरे हाथ में से अपना हाथ खींचकर कहा कि 'क्या, मैं सचमुच अितनी विशाल हूँ ?'

अंत में उसने लजवती-सा लजाना, मानों छोड़ ही दिया ।

उसी समय उसका ध्यान बालकृष्ण के एक फोटो में लगाकर मैंने कहा, 'बस, अब सिर्फ़ एक ही बात की कमी है !'

'वह कौन-सी ?'

'अभीतक नहीं समझी ? अरे भई, फूलों बिना बाग़ की शोभा नहीं, अगर बच्चों बिना घर की शोभा नहीं !'

'लड़का तो मेरा है न ?'

मैं देखता ही रह गया तो वह बोली --

'अशोक क्या मेरा ही लड़का नहीं है ?'

९

सु शी ला

‘अशोक’ ! कितना प्यारा नाम है, पर वे तो कभी भूलकर एक बार भी नहीं लेते। प्रेमाने अखबार में जब अशोक का फोटो दिखाया था तो उनके माथे पर कैसी शिकन पड़ गयी थी ! यद्यपि वे बड़े ममतामय हैं ! देखने पर किसी को लगे कि जैसा प्रेमा और प्रभाकर उनके ही बच्चे हैं ! किंतु अशोक का नाम लेने पर —

अिसे स्वभाव कहें या नसीब ? अच्छा खासा पढ़ा-लिखा प्रोफेसर बेटा, उसका मुँह देखने को तो वे तैयार नहीं और कल की नन्ही-सी साली प्रेमा, वह अगर कोभी भी जिद्द ले बैठे, खड़ पैरों पूरी करने को वे तैयार ! यह देखकर मेरी जैषी क्या करे ? हँसे या रोये ?

अशोक हम लोगों की यह शादी नहीं होने देना चाहता था, तथा शादी के पहले ही वह गाँव छोड़कर बाहर चला गया, केवल अिसीलिये न उसपर उन्हें अितना क्रोध है ? किंतु जिस कारण ये उसका मुँह तक देखना नहीं चाहते, अुषी कारण तो अुसे मुझ शीघ्र देखने का बहुत मोह है ! न जाने कब देखूंगी । ये तो अुसे अपनेसे होकर बुलाने से रहे, और वह अपने आप अिस घर में पाँव रखने से रहा । कल से कॉलेज खुलेगा तो वह

भी बाहर से वापिस आ ही जायगा। तब मैं उससे मिलने जाऊँगी तो — शायद यह अन्हें न बिल्कुल रुचे। पर पगली आशा अमर है न? उसे लगता है, आज या कल अशोक अपने को मिलेगा ही मिलेगा। वह अगर राह में जाता दिखायी दिया तो — मैं हलदी-कुंकू या मंगलगौरी (शादि आदि) के लिये किसी के यहाँ गयी और वह वहाँ सरबत पीने या भोजन करने आया तो — चाहे कहीं भी वह दिखायी दे तो मैं उसे तुरंत ही पहचान सकूँ? अतः मैंने उस दिन का अखबारवाला फोटो काटकर रख लिया है न! उसे जब भी देखती हूँ तो उस दिन रात को मेरे घर आने वाला अशोक अकदम आँखों के सामने आ खड़ा होता है।

उस रात को तो मैं इस जीवन में कभी न भूल सकूँगी! उस दिन यदि ज़रा शांति से मैंने अशोक की बात सुन ली होती, तो — तो क्या होता? यह विवाह न हुआ होता? कौन जाने? अशोक मुझे और क्या सुझाता?

और कोआ मार्ग भी तो मेरे सामने खुला न था। दादी के वे शब्द रह रह के मेरे कानों में गूँजते थे कि, ‘सुशी, लडके के लिये तो सारा संसार घर है, पर लडकी को तो घर ही संसार है।’ और मेरे उस छोटे से संसार में सिर्फ़ तीन ही मुँह थे, पर अन्हें भरने में मुझे तीनों त्रिलोक याद आ गये! यों तो मनभाये मनुष्य से शादी करने को ही अगर मैं अड़ी रहती तो प्रभाकर का पढ़ना समाप्त हो जाता तथा प्रेमा का भी हाल बेहाल होता। और अितने पर भी मेरा ही कौनसा स्वयवर रच जाता! अशोक का भला इसकी क्या कल्पना होगी? प्रभाकर को यह सब साफ़ साफ़ पता था तो भी वह अेक का अेक वाक्य ही रटता रहता था। ‘जीजी! तेरी ज़िंदगी की यों धूलधानी होते खुली आँखों भला मैं कैसे देखूँ?’ वह मन-ही-मन घुले नहीं, अतः मैं कहती, ‘तू तो पगला है रे, प्रभाकर! अरे पगले! इस धूलधानी की धूल तो सर पर चढ़ाने से रही। हाँ, जीवन के धानी रंगों का मैं अवश्य सौदा करूँगी और उसे बेचकर अपनी प्रेमा और प्रभाकर की थाली के आसपास जीवन भर उसे रचना करूँगी।’ अितने पर भी वह जब नहीं हँसा तो मैंने उसे वह भाभी वाला गाना गा कर सुनाया। कितना मज़दार है वह गाना। अेक घर में बड़ी ननद और भौजाअी बैठी हैं। भौजाअी अपने पतिदेव की बाट देख रही है।

बड़ी ननद के सामने वह भला यह बात कैसे कहे ? पर ऐसी बातें ज़बान पर चाहे न भी आयें किंतु नैनों में तो अवश्य नाचने लगती हैं। गालों की लाली में भी फूट पड़ती हैं। अक भौजाभी का मन इस प्रकार नीचे-अपर होता निरखकर ननद कहती है—

कुणितरी लाजत पाहत कां ? *

हलु हांसत कां ?

नच बोलत कां ?

मनि मूक अक कां बाला ?

अस प्रकार मज़ाक जारी था, कि बाहर किसी का पगरव सुनायी दिया। खरगोश की-सी चपल भौजाभी तुरंत उस पगध्वनि को पहचान गयी और तुरंत ही उसके गालों पर गुलाब-ही-गुलाब खिल अठे। वह दरवाज़े की कड़ी खोलने चली कि अस बीच बड़ी ननद अपना अधिकार जताये बगैरे क्यों चुप रहती ? उस लजीली का हाथ थाम और उसे रोककर वह कहती है—

नांव भ्या गडे ! जा मग दारीं †

नाचत नयनीं

लाजत वदनीं

गोड बोल तो बोला !

* कोओ लजाता क्यों देखे ?

हौले होले क्यों हँसे ?

बोलती कुछ क्यों नहीं ?

यों मूक है क्यों अक बाला ?

† पहिले लो नाम ! और फिर जाओ द्वार पर

नाचते नयनों से

लजीले वदन से

फिर मधर बोल बोलो

प्रभाकर का मुँह बंद करने के लिये विवाह होने तक मैं प्रतिदिन ये गीत उसे सुनाती रही। मेरी शादी चाहे किसी से भी क्यों न हो, पर कल जब तू पढ़-लिखकर बड़ा आदमी बन जायगा तो तेरा सुख ही मेरा सुख होगा। इस प्रकार कह कहकर मैं उसे सानंद रखती रही। परंतु विवाह होने के बाद वही गाना याद आता है तो मन को न जाने कैसी अक अतृप्ति के चैन बना देती है। प्रभाकर की बहू को मज़ाक करनेवाली ननद शायद मिल भी जाय, पर मेरे लिये वह कहाँ से आये? और कोअी होती तो भी पचासी की ओम्र पार करनेवाली बुढ़िया भौजाभी से क्या मज़ाक करने बैठती? 'नाम लो' कहकर मेरे पीछे पड़नेवाला कोअी नहीं तो भला मुझे इस बात का अितना बुरा क्यों मानना चाहिये? कभी कुछ देर हो जाय और वे मंदिर से शीघ्र नहीं लौटते तो न जाने क्यों मेरा मन ऊँचा-नीचा होने लगता है। कुशंकार्य होती हैं, प्रेमा बड़ी चंचल है, किसी मोटर के नीचे आ गयी हो? उन्हें भी कम दीखता है, और संध्यावाती हो जाने पर भी साअिकिल और मोटरों की आवाजाही की धूम कम नहीं होती। बहुत से बाअीसिकल वाले मरे बत्ती भी नहीं रखते। अैसी ही किसी साअिकिल का ढक्का लगने से वे कहीं गिरगिरा न पड़े हों?

परंतु उस गीत का-सा नाञ्चक अनुभव मुझे कभी नहीं होता !

वा ज वि दारै *

पा अु ल स्वारी

गा लें ला ली ही ली ला !

पर मैं तो शांति से द्वार खोलती हूँ, प्रेमा मुझसे लिपट जाती है। कभी कभी अुनका हाथ भी छू जाता है किंतु उससे मन में न जाने क्यों कोअी अुत्कट अुत्कंठा नहीं होती।

बौ तो अिनकी-सी ममतावाले मनुष्य हजारों में दस-बीस ही मिलेंगे ! परंतु सुग्ध मनों का मात्र ममता से कहीं समाधान होता है? सवेरे मुझ से पहले

* द्वार बजते ही

किसी के कण्ठ से

गालों पर लाली की लीला !

वे अठ पड़ते हैं। रात को कुछ गरमी के कारण जो ओढ़ना मैं पाँवों के पास रखकर सो जाती हूँ उसे वे सबेरे की सर्दी से मुझे बचाने के लिये कितने हलके हाथ से अुठा देते हैं। मानों कोअी माँ अपनी संतान की हिफाजत करती हो। उस ओढ़ने से शरीर को तो सुख मिलता है, पर मन चाहता है वे छोटे बच्चे की तरह कान में कुर्र करके मुझे जगायें। बाहर घूमने के लिये साथ चलने को कहें या तो फिर सफ़ेदी न फैले तबतक दोनों बातें करते ही बैठे रहें !

किंतु मुझसे क्या बातें करनी चाहिये, इसका उन्हें शायद कुछ पता है या नहीं कौन जाने ! सुशीला याने बड़ो हो जानेवाली प्रेमा ऐसा तो वे नहीं समझते न ? क्योंकि प्रेमा को जिस भाँति वे ग्विलौनों की दूकान में ले जाते हैं, अुसीतरह मुझे भी गहनो की दूकान पर ले जाते हैं और कहते हैं, ' जो कुछ तुझे पसंद हो वह ले लो । ' हाल ही में कपडों की अेक नयी बड़ी दूकान खुल रही है। उसमें बंबअी में जो फैशन कल निकले, वह वहाँ अेकदम आज ही मिलेगी। वह दूकान खुलने से पहले ही अुन्होंने मुझसे वहाँ से ज़री की अेक साड़ी दिलाने को कहा है।

वे प्रेमाके सारे हठ पूरे करते हैं, और मेरा तो कोअी शब्द भी खाली नहीं जाने देते। अखिर अुन्हें हमसे अितने नवने-दबने की क्या ज़रूरत है ? पाँच-दस वर्ष हमारा गृहस्थी का गाडा चल चुका होता, और मैंने अपनी सेवा से अुनपर धाक जमा ली होती, तब तो अुनकी अिस प्रकार की नम्रता कुछ समझ में भी आती। आज तो लगता है, जैसे अपने हाथ से कोअी बड़ी भूल हो जाने पर जिस प्रकार अुसकी पूर्ति के लिय मनुष्य मधुर व्यवहार करता है, कुछ अैसा ही बरतावा वे करते हैं। तो क्या अुनके द्वारा हानेवाली भूल — यह शादी — वारतव में अुन्हें खलती है क्या ?

अिस शादी के लिये यो तो मैंने मौसी को ालखा ही था कि मैं खुशी से तैयार हूँ, तथा अशोक जब मेरे घर आया तो अुससे भी मैंने यहा कहा था। सिर पर अंगलाक्षत पडने तक भी मेरा यही ग्वयाल था कि प्रभाकर और प्रेमा को भी सँभाल सकनेवाले किसी व्यक्ति के साथ ही मैं शादी करूँगी और आनंद से जीवन बिता दूँगी ! अुस वक्त कुछ अैसी ही मेरी मान्यता भी थी।

परंतु अत्यंत प्रेमी पति से पाला पड़ने पर भी कहीं कुछ गलती हो गयी है अैसा लगता है। मैंने बचपन में जिन दिनों मेल में काम किया था, अुन

दिनों के अेक गाने की मुझे अब भी रह रह के याद आती है । वह दो लड़कियों का अेकसाथ दो गाना था । पहले पहल मेरे साथ जो लड़की पार्ट करती थी, उसका गला माठा था, किंतु बिल्कुल बारीक । अतः वह जब मेरे बाद गाती या उसके पश्चात् मैं गाती तो हमारी आवाज़ भली भाँति न मिल पाती । कितना भी जोर लगाने पर रंग न जमता । किंतु उसकी जगह जब अिंदु नाम की दूसरी लड़की आ गयी तो वही गाना खूब रंग जमाता । हम दोनों के स्वर मिलकर अेकरस हो जाते । यदि हम दोनों को पदे के पीछे खड़ा कर दिया जाय तो अिंदु का स्वर कौनसा और सुशीला का कौनसा यह पहचानना लोगों के लिये बड़ा कठिन था !

तो क्या विवाह भी उसी दो गाने की तरह होता है क्या ? पतिपत्नी दोनों बहुत भले हों, अितने मात्र से संसारशकट नहीं चलता । संसार का सच्चा सुख पाने के लिये अिसके सिवा भी बहुत कुछ चाहिये । उस बहुत कुछ में भला, पैतालीस साला पुरुष, बीस-बाअीस की बाला दोनों का जीवन की ओर देखने का अेक दृष्टिकोन कैसे संभव है ? दोनों के दो स्वर, दोनों की दो दृष्टि होना सर्वथा स्वाभाविक है ।

धर्म-कर्म, पूजा-पाठ की बात लें तो यह अतर फौरन समझ में आ जाता है । मैं भी नियम से भगवान् को फूल चढ़ाती हूँ, परंतु उनकी तरह चार चार घंटे तक भजन में भला मेरा मन कैसे लग सकता है ? आषाढी और कार्तिकी के पर्व पर मैं भी प्रतिवर्ष विठोबा के दर्शनार्थ अवश्य जाती हूँ । परंतु प्रतिदिन सायंकाल मंदिर जाने की बजाय, पतिपत्नी वहीं घूमने ही क्यों न जायँ ? भगवान् क्या केवल मंदिर में ही है ?

कहीं उनकी यह भक्ति गलत रास्ते तो नहीं लगेगी न ? परसों दोपहर की ही बात है । लुंगी बाबा नाम का कोअी बाबा भगत है । वह यहाँ आनेवाला है, अिस बात के विज्ञापन के लिये उसकी शिष्यमंडली मार्ग में भजन करती जा रही थी । जिस प्रकार किसी नाटक कंपनी के नगर में आने के पहले उसके अेजेंट धूमधाम से विज्ञापन करते हैं, उसी प्रकार ये शिष्यगण भी अपने भगत-गुरु का ढिंढोरा पीटते चले जा रहे थे । बहुत से बहुत हो सकता था कि उन्हें कुछ भिक्षा दे कर आगे बढ़ने दिया जाता, उसके बजाय उन्होंने उन सबको घर में बुला बिठाया, उन्हें दूध और केले का

फलाहार कराया और उसके साथ ही उस भगतराज की गौरवगाथा शुरू हो गयी। एक शिष्यने कहना शुरू किया कि 'भगवान् स्वयं आकर हमारे भगतराज के साथ ताश खेलते हैं। इसी प्रकार एक बार भगवान् बैठे खेल रहे थे कि अधर वैकुण्ठ में खाने के लिये अनकी बाट देखते देखते थाली में परोसा भात रखा रखा बिल्कुल ठंडा हो गया। इसपर लक्ष्मीजी बहुत बिगड़ी कि वक्त पर भोजन भी नहीं करते। तब उन्होंने खोजने के लिये नारदजी को भेजा। नारद को आया देखा तो भगवान् हड़बड़कर उठकर दौड़े! किंतु इस गड़बड़ी में उनका शख वहीं छूट गया। अब भी हमारे भगतराज के पास वह विद्यमान है !'

मुझे लगा कि यह बिल्कुल पगले की भाँति क्या चक रहा है, किंतु वे यह सब बड़े भावपूर्वक सुन रहे थे। अतने में दूसरे शिष्यने कहा कि 'डॉक्टरोंने एक स्त्री के बारे में बताया कि उसके गर्भाशय ही नहीं है, किंतु हमारे भगतराज की सेवा में जब वह रही, तो उसके अकदम जुड़वाँ बच्चे हुए।'

तब ऐसी बेवकूफों की बातें भी भला क्या सुनी जायँ? यह सोचकर मैं खाने के लिये घर के भीतर गयी। क्योंकि मैं अकेली ही अभी बिना खाये थी। मैंने थाली परोसना शुरू किया कि इस बीच सुनायी पड़ा कि वे किसी पर ज़ोरों से बिगड़ रहे हैं। मैंने सोचा, प्रेमाने कोभी अधम तो नहीं किया न? अतः मैं तुरंत ही बाहर आयी तो देखा दरवाज़े में एक अठारह-अन्नीस साल का लड़का खड़ा है। और वे उसे गुस्से से कह रहे थे कि 'चल, चलता हो। यहाँ कुछ नहीं मिलेगा तुझ।'

उस लड़के की शकल देखते ही मेरा जी भर आया। उसका कोट फटा हुआ था। उसका चेहरा भी रुखा-रुखा था। परंतु वह लड़का मुझे प्रभाकर की भाँति लगा। मैंने सोचा, बिचारे को कोभी बहन न होगी और हो भी तो उसे कोभी संपन्न दूजवर न मिला होगा! अगर मेरे प्रभाकर का भी इसी प्रकार दूसरे के दरवाज़े जाने की बारी आये और उसे कोभी बौ धुतकार दे तो —

वह उन लुंगो बाबा के शिष्यों की बातचीत के बीच मैं ही आ टपका, यही उसका सबसे बड़ा अपराध था! बिचारा दो दिन का भूखा था। आज भी

दोपहर टला जा रहा था, उसने सोचा, कि चौका अउ जाने पर शायद कुछ न मिल सके, अतः वह बीच ही में बोल पड़ा । बस अितनी-सी बात पर वे उसपर बिगड़ पड़े और उससे ' चले ' जानेको कहा, किंतु वह टलता ही न था, क्योंकि उसे अुन शिष्यगणों के खाये केलों की छालें और दूध के खाली प्याले नज़र आ रहे थे ।

अुनकी नाराज़ी देखकर मैं भी मन में घबड़ा गयी, जिस प्रकार राख अउ जाने पर चिनगियाँ चमकती हैं, वैसे ही लग रहे थे वे । अिस बीच अुन शिष्यगणों में से दो-तीन अुस लड़के को मारने के लिये अुठे । तब तेज़ी से वह बिचारा चल दिया ।

तब मैं चटपट पीछे के दरवाज़े से बाहर आयी तो वह चबूतरे से अुतरकर दूसरी ओर मुड़ ही रहा था कि मैंने अुसे अिशारे से बुलाया । अुसे अिस बात पर शायद अचरज हुआ हो, परंतु वह धीरे धीरे चला आया । तब मैंने यह सोचकर कि कहीं बीच में वे अंदर न जायँ, अतः अेकदम अाखिरी कमरे में अुसे खानेको दिया । तब पहला कौर मुँह में देते ही अुसने मुझे कुछ अैसी दृष्टि से देखा कि मानों सारे संसार की कृतज्ञता अुसकी आँखों में अेकत्र हो गयी हो ! और मैंने स्वयं अभी कुछ न खाया था, अिसका तो मुझे कोअी खयाल ही नहीं रहा । दूसरी ओर वह तेज़ी से खा रहा था । लगभग आधा खाना खा लेने पर अुसने मुझे पूछा कि ' बहन, आपने अभी खाया या नहीं ? '

अिस पर मैंने सोचा कि सच कहूँगी तो अिसे संकोच होगा । अतः मैंने कह दिया ' हाँ ' ।

तब वह हँसकर बोला कि मालूम होता है अभी आपको घरबार सँभालना नहीं आता । मैं अुसके अिस कथन का ठीक मतलब न समझ सकी और असमंजस में पड़ गयी तो वह बोला कि ' आजकल प्रतिदिन भोजन हो जाने पर अगर अितना अन्न बच जाता है तो — ' कहते कहते अुसकी आँखों में पानी भर आया ।

अच्छे भले पढ़े-लिखे लड़कों की तरह वह बातें कर रहा था । मेरे मन में आया अिसके नाम-धाम-घरबार आदि के बारे में पूछूँ कि अिस बीच

स्वयं उसने ही बतलाना शुरू किया। सौतेली माँ के जुल्मों को बर्दाश्त न कर सकने के कारण वह बचपन में ही घर से भाग निकला था। उसके बाद उसने प्रत्येक घर एक एक दिन खाकर मैट्रिक पास कर लिया। फिर बंबई जाकर खूब खूब नौकरी खोजी। अंत में एक मिल में उसे नौकरी मिली भी तो बीमार रहने लगा। तब उसने बंबई छोड़ दी और बहुत जगह भटका किंतु कहीं नौकरी तो मिली नहीं। अंत में घर वापिस जाने का मन न होता था।

हाथ धोते हुए वह बोला, 'पता है आपको आखिर मैंने क्या निश्चय किया था ?'

'क्या निश्चय किया था भला ?'

'बस, आखिरी आसरा आत्महत्या का था, क्योंकि इस संसार में अब जीने का कोई अर्थ न था !'

'नहीं भाभी ! ऐसी वैसी बात मनुष्य को कभी मन में न लानी चाहिये।'

'अब मैं कदापि आत्मघात न करूँगा ! अब मुझे एक बढ़िया मार्ग मिल गया है।'

मैंने पूछा, 'वह क्या ?' कि अतने में पनघड़े में ठंडे पानी के मटके का बर्तन बजा। शायद वे पानी पीने आये थे। उन्हें यह देख गया तो — अतः मैंने उसे तुरंत अिशारे से पीछे दरवाजे से भगा दिया। वह बाहर गया ही था कि अतनेमें वे वहीं आ गये।

दरवाजा खुला देखकर वे बोले, 'यह दरवाजा कभी खुला मत रखा करो। आजकल गाँव में चोरियाँ बहुत हो रही हैं। थोड़ी देर पहले ही वह मुण्डा देखा था न ? खुला होता तो पीछे से आकर अवश्य कुछ न कुछ ले भागता ?'

यह कहकर वे हँसे, मैं भी हँसी कि उन्हें बुरा न लगे। उस लड़के के साथ उनका रूखा व्यवहार मुझे बिल्कुल न भाया पर वे परदेश में पच्चीस साल अकेले जो रहे थे ! ऐसे आदमी में थोड़ासा रूखापन होना स्वाभाविक ही है। औरान से उनका कोई मित्र बंबई आया था, उसने उनकी विवाह बाँच्छ मौसाजी से कही तो होते होते यह विवाह भी हो गया। यह

सब होने पर भी प्रेमा और प्रभाकर को ये कितने प्यार से रखते हैं ! अतः
अिनके अिस अुपकार की कीमत चुकाना ही अब मेरा काम है । मेरे मन
में कुछ न कुछ चूक-सी खलती है तो भी मैं पूर्ण सुखी हूँ, यही अब मुझे
दरसाना है । लोग भगवान् को भोग लगाते हैं और वे प्रसन्न हो जाते हैं ।
तो क्या फिर 'मेरी' जैसी जनम दुखिया को सुख के दर्शन से ही संतोष न
मानना चाहिये ?



१०

अ शो क

दौरे से लौटने के बाद नयी माँ और पिताजी से किसी न किसी दिन कहीं न कहीं मार्ग में मुलाकात हो ही जायगी, यह खयाल मन में अक्सर आ ही जाता। अगर मुलाकात हुई तो पिताजी हाथ की छत्री से रास्ता रोकेंगे? पर सुशीला, शायद वह इस अभिमानवश मुझे मात्सुर्य से देखेंगी कि देख तू जिस विवाह को रोकने चला था, वह आखिर हो के रहा या नहीं?

अपने मन में मैंने ऐसे ही अनेक तर्क कर रखे थे। किंतु वे सभी ग़लत साबित हुए। क्योंकि आने के पहले ही दिन हम लोगों की भेट हो गयी और वह एक नयी ही शुरू होनेवाली कपड़े की दूकान में। आश्रम की औरतों को मैं साड़ियाँ दिलाने साथ ले गया था। वहीं उस समय पिताजी भी सपरिवार आये थे। मैं शायद औरतों के जमघट में होने के कारण उन्हें न दिखा होऊँ पर उनका उस पहाड़ी आवाज़ में बोलना हम सबको सुनाओ देता था! उन औरतों की कलबल सुनकर पिताजी बोल ही तो उठे 'राम जाने कहाँ का जनानखाना घुस आया है यहाँ?' उनका यह वाक्य सुनकर औरतें और भी हँसने लगीं! इसलिये सुशीला का ध्यान भी मेरी ओर आकृष्ट हुआ। मुझे देखकर उसके मुख पर स्मित की रेखाएँ अमड़ पड़ीं। मुझे

तो अिससे अचरज ही हुआ ! अितनेमें पिताजी गरम हुअे कि — ‘ अरे भाअी, यहाँ साड़ियाँ देखने आयी हो या आदमी देखने ? ’

किंतु अिस बात का कोअी अुत्तर न देकर सुशीलाने आगे बढ़कर मुझे आवाज दी, ‘ अशोक — ’

‘ क्या है, सुशीला देवी ? ’

‘ मैं देवी-दानवी कुछ नहीं ! ’

‘ तो फिर ? ’

‘ मैं तुम्हारी माँ हूँ ! ’

‘ माँ ? ’

साथ ही अुसकी आँखों और स्वर से अुमड़कर बहनेवाली कोमल भाव-नाने पलभर में ही मुझपर विजय प्राप्त कर ली । अतः मैं सहसा बोल अुठा, ‘ तो क्या चाहिये माँ को ? ’

‘ माँ को और क्या चाहिये ? अपनी संतान मिल गयी तो सब कुछ मिल गया । चलिये, मेरे साथ घर चलिये ! ’

‘ चलिये ? माँ कुछ संतान से अजी-अजाँ में बात नहीं करती ! ’

‘ अच्छा ! अब घर चल । ’

पिताजी हम दोनों की ओर नाराजी से निहार रहे थे, पर मैंने अुधर ध्यान ही नहीं दिया । वह बोली ‘ घर कुछ अिनका अकले का ही थोड़े है ? झट बता, कब आयेगा ! ’

जब मैंने शाम को ही घर आने का तथा चार-छः दिन रहने का वादा किया, तभी मेरी मुक्ति हुआ !

दोपहर को जब पुष्पा को यह बात बताअी तो वह तो रूठ ही गयी । मैंने सोचा, मेरे और पुष्पा के बीच कोअी न कोअी स्त्री आती ही रहे, यह कोअी देवी संकेत तो नहीं ?

कॉलेज में पढ़नेवाली पुष्पा जैसी लड़की का मन अितना संकुचित भला क्यों है ? अिसी विषय पर सोचता सोचता शाम को मैं पिताजी के घर पहुँचा । पुष्पा के बारे में सोचते सोचते मुझे अुसपर दया आ गयी । अुसके घर में अुसके सामने जबतक चित्तोपंत और मैनाबाई को लीलायें जारी हैं, तबतक अुसके मन में अुदात्त विचार भला कैसे और कहाँसे आयेंगे ?

पर माँ को देखते ही मैं सारे झूल झूल गया। क्योंकि उसकी आँखों में मिलने की अक्कंठा थेभी थेभी नाच रही थी।

मैंने पूछा 'पिताजी कहाँ हैं ?'

'मंदिर गये हैं !'

'घर में देवता होने पर भी न जाने लोग देवालय में क्यों जाते हैं ?'

'देवता भी तो बड़े मनमौजी होते हैं !'

'यह सर्वथा सच है ! ये देवता कोभी आदमी अपने घर आये तो कहते हैं अपनी 'राह लो'। और कुछ दिन बाद यदि वही आदमी नज़र पड़े तो घर आने का आग्रह करते हैं।'।

'क्योंकि वह आदमी भयंकर, बहुत भयंकर होता है, इसीलिये तो —'

अस रात के हम दोनों के वार्तालाप पर हमने मज़ाक तो अवश्य किया, किंतु एक ही दिन में मुझे मालूम हो गया कि अस रात को कही गयी सारी बातों का अक्षर अक्षर उसकी आँखों के सामने नाच रहा है। अगर वह नये घरबार में मन से घुलमिल गयी होती तो अस रात की बातें उसे याद रहने का कोभी कारण ही न होता !

फिर भी दूसरों के लिये अपने आपको भुला देने का उसका स्वभाव ही है। अतः आने के साथ ही मुझे क्या क्या अच्छा लगता है ? चाय में शक्कर कम चाहिये या ज़्यादा ? चाय दिन में कै बार चाहिये ? साथ ही ठंडे पानी से नहाता हूँ या गरम से ? सब कुछ उसने पूछताछ कर जान लिया। वास्तव में छोटी छोटी बातों में ही सुख का मूल है ! यह पुरुषों की अपेक्षा औरतों को ही अधिक अनुभव होता है !

माँ के जितना ही पिताजी ने भी इस बात का मुझे अच्छा अनुभव करा दिया, किंतु वह अपने निराले ही तरीके से। मुद्दत में तो मैं घर आया था, सो भी चार दिन में ही चला भी जानेवाला था। वे अगर मुझ से दो शब्द बोले होते तो भला अुन का क्या बिगड़ जाता। किंतु अुन्हों ने बिल्कुल मौन व्रतका ही पालन किया। क्यों कि मनुष्य के मन में यदि अहंकार और प्रेम दोनों का द्रंद्र छिड़ जाय तो पहले की विजय ही स्वाभाविक है। बिचारे पिताजी ही भला इस के अपवाद कैसे बनते !

प्रेमा को जब मैं मौसी कहकर बुलाने लगा तो वह नटखट छोकरी बोली,
‘ भला मैं तुम्हारी मौसी कैसे हो सकती हूँ ? ’

‘ क्यों नहीं हो सकती ? ’

‘ मैं तो कितनी छोटी हूँ, मौसी तो बड़ी होती है । ’

‘ परंतु बाघकी मौसी कौन होती है ? ’

‘ बिल्ली । ’

‘ तो बाघ बड़ा होता है या बिल्ली ? ’

मेरे इस तर्क से प्रेमा को पूरा समाधान हो गया । अब तो वह हमेशा मेरे ही आसपास रहने लगी । और प्रभाकर तो कॉलेज में जानेवाला लड़का था, भला उससे मेरी पटरी बैठने में देर ही कितनी लगती ?

और नयी माँ को भी बात करने को कोअी चाहिये ही था, सो हम सब अनजाने ही अके हो गये और पिताजी बिल्कुल अकेले पड़ गये ! वह उन्हें बहुत बहुत दूभर लगने लगा । तो भी वे अकेले ही बैठते । नयी माँ से भी चिड़ाचिड़पन से बात करते, मेरी ओर तो भूलकर भी न देखते । मेरे आने से दूध में नमक की डली अवश्य पड़ गयी थी, यह तो साफ़ साफ़ दिखता था ।

पर मेरे आने के पूर्व भी दूध कुछ शुद्ध स्वच्छ न था, मेरा यह खयाल भी सही निकला । तीसरे या चौथे दिन रात को मैं और माँ बैठे बैठे बातें कर रहे थे, पिताजी अपने कमरे में थे । हमारी बातों में से बातें निकलीं तो माँने भी अपना मन खोलकर दिखा दिया । उस के जख्म देखने में जितने छोटे अुतने ही गहरे भी थे । उस का अके अके वाक्य मानों सचाओ पर पड़नेवाला प्रकाशपुंज था —

‘ मेरी आँखों पर त्याग का पर्दा चढ़ गया था । ’ उसने कहा ।

— ‘ तभी तो स्त्री को समाज में मार मारकर देवता जो बनाते हैं ! ’

— ‘ अगर मैं तेरी माँ होने के बजाय तेरी बहन होती तो — ’

— ‘ हरी साड़ी को हरी ही जरी चाहिये यह भी मैं अनुभव से ही सीखूँ, शायद ऐसी ही हरीन्छा थी । ’

अब माँ रोने लगी, वे आँसू खून के थे, मुझ से वे देखे न गये तो मैं

असे धीरज बँधाने पास गया, अितनेमें किवाड़ खटकी, मुड़कर जो देखा तो पिताजी दरवाजे से कान लगाये खड़े थे ।

तब माँ को तो मैंने किसी प्रकार समझा दिया किंतु मुझे कौन समझाता ? पुष्पा से सुशीला बहुत से बहुत तीन-चार साल बड़ी होगी । परंतु वह विवाह होते ही मेरे जैसे बड़े लड़के की माँ बन गयी । उस पर लादा गया यह प्रौढपन — अगर उस की जगह पुष्पा होती तो — या तो वह आत्महत्या कर लेती या तो उस पति को ही नहीं-सा कर डालती । प्रेमा और प्रभाकर मात्र अिन दोनों के लिये ही मैंने यह अग्निपरीक्षा दी थी । और ऐसी अग्निपरीक्षा में से शरीर चाहे भले ही सुरक्षित निकल आये किंतु मन तो बुरी तरह झुलस जाता है । सीता को भी क्या ऐसा ही अनुभव हुआ था ? यह तो राम जाने !

घटनेवाली घटना में यदि माँ की कोअी भूल न थी, तो पिताजी की भी भला ऐसी क्या भारी भूल थी ? अन्होंने अीरान में पचीस साल बड़े कष्ट से बिताये । अितने परिश्रम से अुपार्जित पैसे का अुपभोग सुख से करने का अुन्हें हरेक हक है । और अिस विवाह की बाबत अुन्होंने किसी पर कोअी दबाव नहीं डाला था । अुलटे विवाह के बाद अुन्होंने अपने साले-साली का पालन-पोषण भी सानंद स्वीकार किया था । अितने अुदार स्वभाव का व्यक्ति कभी किसी को भला जानबूझकर दुख दे सकता है क्या ? कभी नहीं । माँ भी तों कहती है कि वे अत्यंत अच्छे स्वभाव के हैं । किंतु यह सब होने पर भी दोनों दुखी हैं । यह भी विधि की विचितता ही समझो ।

सारी रात मैं अिसी बात का विचार करता रहा । माँ की स्थिति चक्रव्यूह में फँसे अभिमन्यु की-सी थी, वापिस आने की युक्ति असे मालूम न थी ! और अगर उस की जगह मैं भी होता, तो भी ऐसी स्थिति में भला क्या करता ?

और मेरे घर में रहने से तो दोनों का दुख और भी बढ़ेगा, यह मुझे अनुभव होने लगा । और अेक-दो दिन में ही सीखने का मैंने निश्चय भी किया । किंतु दूसरे ही दिन सबेरे ही मुझे असे अमल में लाना पड़ा । चाय के समय स्थानीय अखबार आये थे, अुन में हरेक में ही भगतराज लुंगी बाबा का फोटो, अुनका जीवन-चरित्र, व अुस गाँव में अुन के पधारने

का नखशिख समेत वर्णन भी छपा था । यह देख कर मुझे बड़ा रोष आया । किसी ने चार पैसे मुँह पर फेंके कि लगे ये संग्रहादक अउन के गीत गाने ।

मैंने माँ से कहा — ‘ माँ, यह अक पगले का फोटो देखा क्या ? ’

किंतु माँ का ध्यान मेरी ओर खींचने से पूर्व ही पिताजी मुझे सरोप देखने लगे थे ।

अतः मैंने विषय बदलने के लिहाज से पिताजी से कहा कि ‘ आपको चाय में शक्कर और चाहिये क्या ? ’ पर वे कुछ बोले नहीं ।

अिस पर माँ बोली, ‘ सुना क्या ? अशोक पूछ रहा है, और शक्कर चाहिये क्या ? ’

अिस पर वे अुफने कि, ‘ मेरे कान साबूत हैं अभी; तुझे लगता है कि तेरा पति बहुत बूढ़ा हो गया है । ’

‘ ये क्या पागलों की-सी बातें करने लगे ? ’

‘ पागलों की-सी ! अच्छा, मुझे पागल बताकर पागल खाने में भिजवाने का अिरादा मालूम होता है तुम दोनों का ! ’

अब वहाँ बैठने में सार न था, मैं दोनों को नमस्कार करके चल पड़ा । अिस पर माँ बोली कि ‘ अशोक चाय बिना पिये ही जा रहा है । ’

‘ तो मैंने क्या अुसे चाय पीने को मना किया है ? ’

‘ आप को तो बच्चों की अितनी अभिलाषा है, फिर — ’

‘ किंतु मुझे नन्हे-मुन्ने की अभिलाषा है, अैसे षोड़े की नहीं । ’

अपने घर आने तक मेरे कान में पिताजी के वे शब्द गूँज रहे थे कि ‘ मुझे तो नन्हे-मुन्ने की अभिलाषा है ! ’ पिताजी का अंतर्मन अुस अक वाक्य में प्रकट हो गया था, अुन्होंने दूसरी शादी क्यों की ये अिन चंद शब्दोंने बता दिया था । मुझे अब अपना मानसशास्त्र का ज्ञान हास्यास्पद लगने लगा । क्यों कि पिताजी जैसे वयस्क लोगों को लग्न नहीं करना चाहिये, यह मेरा मतव्य था । किंतु केवल पत्नी के सहवास की ही अउन की अिच्छा अतृप्त नहीं रही थी । बल्कि अउनकी वात्सल्य की प्यास भी अभी बुझी न थी । अीरान में जो पचीस साल अुन्होंने निकाल दिये, वे भी

अशोक की बालमूर्ति सामने रखकर ही । जिस सतत चिंतन का क्या अनु के मन पर कम परिणाम हुआ होगा ?

यदि नहीं माँ को शीघ्र ही संतान हो तो पिताजी का जीवन पुनः सुखी बन जायगा, जिस का मुझे दृढ़ विश्वास हो गया । और संतान होने पर माँ भी शायद उस के प्रेम में अपने साथ होनेवाला अन्याय भूल जाय ! पिताजी तो उसे सर पर रखकर निश्चय ही नाचने लगेंगे । उस के रूप में मानों दोनों का ही पुनर्जन्म होगा । और उस पुनर्जन्म में आज के पिछले जीवन को दोनों स्वभावतः स्वयं ही भूल जायेंगे ।

घर आया तो पुष्पा का पत्र टेबल पर पड़ा था । —

‘ अशोक !

(प्रिय विय कुछ नहीं)

सौतेली माँ के साथ तुम्हारा समय बड़े मजे में बीतता होगा ! क्यों न ? किंतु पुष्पा नाम की भी तुम्हारी परिचित कोअी लड़की है, जिसकी भी याद है न ? अब क्या है ! कॉलेज शुरू हो गया, अतः अब तो तुम्हारे पास वक्त ही कहाँ ? और अगर हो भी तो— कॉलेज, वह तारा, सौतेली माँ, आदि से तुम्हें फुरसत कहाँ ? सोचती हूँ गॉर्की ने ‘ माँ ’ उपन्यास लिखने के बजाय ‘ सौतेली माँ ’ लिखा होता तो अधिक अच्छा होता, क्यों न ? मैं बहुत बहुत नाराज़ हूँ तुम पर ! यदि सुबह शाम मेरे साथ घूमना स्वीकार करो, तभी ये नाराज़ी दूर हो सकती है । नहीं तो देवता जिस प्रकार भक्तों पर प्रसन्न होकर उन्हें वर देते हैं, उसी प्रकार शाप भी दे देते हैं, समझे न ?

अतने दिनों तुम्हारी ही रही
पुष्पा ’

घट्, पगली कहीं की ! उसे अपना प्रेम ही जीवन-मंदिर का कलश लगता है । किंतु यह तो न कलश है न नींव ही । यह बिचले मजले का सुंदर झरोका है ।

सु शी ला

अशोक के आगे मैंने अपना मन न खोला होता तो कितना सुंदर होता । पर मैं भी क्या करती ? मैंने सोचा जैसे मंद आँच पर दूध गरम हो रहा है, अतः मैं निश्चित थी, किंतु आँचने अकाअक जोर पकड़ा और दूध औटने के बजाय उबल पड़ा । कुछ ऐसी ही हालत हो गयी थी मेरी ! विवाह के वक्त मैं अँधेरे गड्ढे में कूद रही हूँ यह सोच कर अशोक मुझे पीछे खींचने के लिये दौड़ कर आया था किंतु उस वक्त मैंने उसे झिड़का दिया । पर मतलब की अँची डाल से नीचे गिरने के बाद जब काफी ठेस लगी तो मुझे उस निःस्वार्थ प्रेम की याद आयी तब मैंने उन की मर्जी के खिलाफ़ उसे घर भी बुलाया । सोचा कि उस की बातों से मेरे मन का उफान खूब उभरेगा । परंतु उसकी बातों से मेरे मन का उफान उफाना नहीं, अलटे सिगड़ी के अँगारों ने और जोर पकड़ा । सब कुछ बिस्कुल विपरीत हो गया । उन अँगारों में से घड़ाघड़ चिनगारियाँ उड़ने लगी । अिन चिनगारियों से भला साड़ी में कितने छोटे छोटे छेद हो जाते हैं । और एक भी छेद हो जाने पर हम औरतों के मन में वह जला कपड़ा अशुभ लगने लगता है, और पहिनने में न जाने क्यों मन संकोच करने लगता है ।

अशोक के चले जाने के बाद अन की ओर देख कर न जाने क्यों मेरे भी मन में कुछ ऐसे ही विचार अुठने लगे । हाँ, मात्र प्रेमा के साथ अवश्य वे अब भी बड़े प्रेम से पेश आते थे । परंतु प्रभाकर से अेक शब्द भी न बोलते । और मुझसे जो बोलते भी तो ऐसा बोलते कि न बोले तो ही अच्छा । परसों की वह घटना भी कितनी विचित्र है ? अुफ़ ! सारी रात मेरी आँखों का पानी बहना बंद नहीं हुआ । अुस दिन अन के पैर में थोड़ी मोच आ गयी थी । मैं अुस पर आँवा-हलदी गरम करके लगा रही थी और वे न जाने किस खयाल में आँखें मूँदे पड़े थे । कोअी भयंकर स्वप्न देख कर मनुष्य यकायक भड़भड़ा कर अुठ पड़े, अुस प्रकार अुन्हों ने आँखें खोलीं । और मेरी ओर देख कर वे बोले, 'सुशीला !'

वे मुझे नाम से कभी आवाज़ न देते थे । अतः वह आवाज़ सुनकर जिस प्रकार हलुआ में रवा पड़ने लगता है, वैसा आनंद आया ।

परंतु सुख और दुख तो दोनों जुड़वाँ भाई ठहरे न ?

वे आगे कहने लगे । 'मानो, मैं और अशोक दोनों बहुत बीमार पड़ गये हैं, डॉक्टरों ने दोनों की ही आशा छोड़ दी हो, अितने में यमराज तेरे सामने आकर कहे कि 'बता - अिन दोनों में से किसी अेक के प्राण मैं तुझे वापिस दे सकता हूँ,' तब तू अुन्हें क्या अुत्तर देगी ?'

अिस पर सावित्री की कथा मेरी आँखों के सामने आकर खड़ी हो गयी । परंतु मेरी अपेक्षा वह बहुत भाग्यवान् थी । अुसने तो बच्चे माँगे थे । अतः यमराज को विवश होकर अुसका स्वामी लौटाना ही पडा । किंतु मेरे सामने अुपस्थित सवाल बड़ा बिकट था । बेटा बचाऊँ या स्वामी ?

अतः मैं तो चुप ही रही । अिससे अनका मन शायद और भी अुद्विग्न हुआ ! अतः वे मुझे झँझोडकर बोले, 'अशोक से तो चार चार घंटे तक घुटघुटके बातें होती रीं, अब क्यों दाँती मिच गयी ?'

आँखों में रुका हुआ पानी पोंछकर तब मैंने अुत्तर दिया कि 'मैं तो दोनों के ही प्राणों की भीख माँगूंगी ।'

'पर वह यमराज दे तब तो न ?'

तब अनके पैरों पर सर टेककर सिसकते हुअे मैंने कहा, 'मुझे तो ये चरण छोड़कर और कहीं नहीं जाना है ।'

‘परंतु मैं क्या माँगूंगा, पता है ?’

मैं यह सर नीचे किये ही सुनती रही ।

‘मैं तो यमराज से कहूँगा कि अशोक को ही प्राणदान दीजिये । मेरा क्या है ? मैं तो अब पका पत्ता हूँ ।’

साथ ही हँसते हुआ वे बोले, ‘आखिर तो तू अशोक की सौतेली माँ ही है न ? तुझे उसका क्या दुखदर्द हो सकता है ?’

सारी रात दुखिया आँखों का सावन भादों बनाकर मैं अनुकी बातों पर विचार करती रही । मुझे कुछ ऐसा लगा कि भिन्द्रधनुष के सात रंगों की परख बहुत सरल है, पर मानव-मन के रंगों का परखना परम कठिन है । मन में तो अफ, न जाने कितने विभिन्न रंगकर हिलमिल कर हर बार कुछ न कुछ निराली ही छटा दिखाते हैं । दया और द्वेष, प्रेम और पीड़ा, आदरता और लघुता का मानव-मन में कब न जाने कैसा मिश्रण होगा, इस का कोई नेम नहीं । इसीलिये तो मनुष्य के मन में सिर्फ सात ही नहीं बल्कि सात सौ रंग होते हैं ।

अस बीच एक बात अब भलीभाँति निश्चित हो चुकी थी कि अशोक से हम लोगों का अंतर बहुत बढ़ गया था । अतः एक गाँव में रहते हुआ भी अब हम लोगों को एक दूसरे से दूर ही रहना होगा । वैसे वह परसों जब आया था तो मैं यह कहकर कि ‘मेरे लिये तू अब बहू कब लायेगा ?’ उसका खासा मज़ाक बनानेवाली थी, पर तब तो कह न पायी और अज्ञान की मन में ही रह गयी ।

तभी तो मन के मुताबिक कोई काम न बनने पर अक्सर दादी कहा करती थी कि ‘आमों में बौर तो बहुत आता है, पर सभी बौरों में फल नहीं लगते ।’ ऐसी ही हालत कुछ मनुष्य-जीवन की भी है कि उस में आशा का बौर तो बहुत आता है — पर सारा बौर फलता कभी नहीं । फलता अकाध ही है ।

अन्हें अच्छा लगे अस लिये अब मैंने घर में अशोक का नाम तक न लेने का निश्चय किया । आजकल वे सायंकाल प्रतिदिन लुंगी बाबा के मठ में बहुत जाने लगे थे । अस लिये भी अिन दिनों वे खुश रहते । वे मठ से वापिस आते तो सुनाते कि बाबा किस प्रकार अपने अंतर्ज्ञान से

दर्शन के लिये आनेवाले लोगों के नाम बताते हैं, मैनाबाभी नाम की एक मालदार महिला बीमार थी, वह कैसी भगतराज के हाथ फेरते ही अच्छी हो गयी ! बाबा के शिष्यों में बड़े बड़े डॉक्टर, वकील और संपादक लोग हैं । बड़े बड़े लखपतियों की औरतें भी उन की सेवा के लिये उन के सान्निध्य में मठ में ही रहती हैं । आदि बातों का जब वे बड़ा रसभरा वर्णन करते तो मुझे उन के भोले पन पर तरस आता । परंतु उन्हें बुरा न लगे, इस लिये मैं उन की बातें सुन कर ऐसा दरसाती कि जैसे मुझे ये बातें बहुत भाती हो ! भले कितनी ही सुघड़ औरत क्यों न हो, जिस प्रकार रसोभी में कभी कभी वेशी नमक-मिर्च पड़ ही जाता है, मनुष्य का स्वभाव भी कुछ कुछ वैसा ही है । एक ओर अशोक का स्वभाव अितना मीठा, परंतु उसका धर्म-कर्म में बिल्कुल विश्वास ही नहीं । दूसरी ओर अनिका इस सब में घोर अंध-विश्वास ! बेटा एक सिरे पर तो बाप बिल्कुल दूसरे सिरे पर ! पर मैंने सोचा कुछ भी क्यों न हो, किसी प्रकार घर शांत रहे तो सब ठीक ही समझो ।

किंतु जैसे तूफान के पहले समुद्र शांत होता है, यह भी कुछ वैसी ही शांति थी । अतः एक दिन वे जब मठ से वापिस आये और उन का दिया प्रसाद मुँह में डाल कर जैसे ही मैं रसोभी घर में जाने लगी कि वे बोले, ' ज़रा ठहरो तो — '

मैं खड़ी हो गयी तो वे मेरी ओर आधी पीठ करके हँस कर कहने लगे, ' ओह, आज मठ को जाते वक्त क्या सुंदर दृश्य देखे मार्ग में हमने ! एक घर के दरवाजे में खड़ा एक छोटा बच्चा अपने बाप की मूँछें पकड़ कर खींच रहा था, — मैंने सोचा — यह आनंद अब अगली पीढ़ी के नसीब में कहाँ ? क्यों कि आजकल तो सभी जवान मूँछें सफाचट रखने लगे हैं । अतः जब अगली पीढ़ी के बापों को मूँछें ही नहीं होंगी तो बिचारे बच्चे खींचेंगे कहाँ से ? ही, ही, ही ! '

किंतु उन की इस बात का कुछ मतलब मेरी समझ में न आया । मैं भी मुफ्त ही हँस पड़ी । इस पर हँसने से आश्वासन पाकर वे फिर कहने लगे — ' रास्ते में एक बाप अपने छोटे लड़के को गोदी में लेकर जा रहा था, उस बच्चे ने मार्ग में बाप का चश्मा खींच कर फेंक दिया तो वह

टूटफूट गया। पर देखने वाले उसे खासा तमाशा समझ कर हँसने लगे। तब बाप को भी क्या सूझी कि आप भी सब के साथ हँसने लगा और बच्चे का प्यार लेकर तथा अपना सामान समेट कर चल दिया।

अस पर मैं फिर हँसी तो ज़रा दूर जाकर मेरी ओर पीठ करके वे बोले, 'मेरी एक अच्छा है !'

'वह क्या है ?'

'यही कि तुम भी थोड़े दिन लुंगी बाबा की सेवा में रहो।' इसका जब कोही उत्तर न मिला तो वे पुनः बोले, 'सुन तो लिया न ?'

'हाँ हाँ, सुन लिया !'

'तो फिर ?'

'आप के चरणों के सिवा मुझे किसी की सेवा नहीं करनी !'

'किसी की भी ?'

'हाँ हाँ ! किसी की भी।'

'क्या, अशोक की भी ?'

'अशोक तो मेरा लड़का है।'

'यह तुझे मुझे समझाने की ज़रूरत नहीं, पचीस साल तक उसे मैंने ही पाला-पोसा है। जब से वह तुझे मिला है, तब से तू बहुत भड़क गयी है। स्त्री को जैसा स्वामी कहे, वही करना चाहिये ! समझी ? क्यों कि पति ही पत्नी का देवता है, यह शास्त्र और पुराण न जाने कब से कानों में और सर पर पुकार पुकार कर कह रहे हैं।'

'और पत्नी पति की देवी नहीं है क्या ?'

'ऐसी देवी जाय भाड में !'

वे बहुत चिढ़ गये थे, अतः जो मन में आये कहने लगे — 'पति कोभी परोसी थाली का भाजीपाला नहीं है; कुछ नीलाम का आश्रीन नहीं है ! समझी ?' अक-दो-तीन करके मेरी एक भी न सुन कर वे कहे ही जा रहे थे।

तब मैं उनके पैर पकड़ने लगी तो वे और दूर हट गये। अतः फिर मैंने अपने मन को दृढ़ करके कहा, 'आप चाहे तो मेरा गला घोट दीजिये, पर उस पाखंडी बाबा की सेवा में मुझे न भेजिये।'

तब वे आपसे बाहर होकर मेरे ऊपर झपटते हुअे बोले, 'याने तुझे सेवा में भेजनेवाले हम बिल्कुल गधे हैं? पति को गधा समझनेवाली औरत के मुँह पर कसकर —'

वे तमाचा मारने ही वाले थे, यदि उस समय कहीं से वहाँ प्रेमा न आ जाती तो! अगर उन्होंने ने चाँटा मार दिया होता तो बहुत अच्छा होता। क्यों कि उस से मेरी अपेक्षा उनकी आँखें कहीं शीघ्र खुल जातीं।

किंतु प्रेमा को देखते ही उन्होंने हाथ वापिस खींच लिया। वे उसे अतना अधिक प्यार करते थे कि वह छोकरी उन से ज़रा भी न डरती थी। उस ने उन से पूछा, 'पिताजी! आप जीजी को मार रहे थे क्या?'

शायद बड़े लोगों को भिन छोटे बच्चों का भगवान से भी अधिक डर लगता है। तभी तो वे हँसकर प्रेमा को थपथपाते हुअे बोले, 'छिः, मच्छर बहुत हैं यहाँ। अरे, मैं तो तेरी जीजी से मज़ाक कर रहा था, परंतु यह बड़ी डरपोक है।' इस पर प्रेमा भी हँसने लगी। मैं क्यों डर रही थी, उसे भला वह क्या समझ सकती थी?

अब उन्होंने प्रेमा से ही बातचीत शुरू कर दी। उन लुंगी बाबा के पास एक देव है, वह तेरी जीजी को खूब सुंदर एक गोरा गोरासा लह्ना देगा। पर तेरी जीजी तो वहाँ जाकर रहने को तैयार तक नहीं। ऐसी ही सैकड़ों बातें वे उस से कर रहे थे। तब कचकड़े के बबुआ की तरह वहाँ सचमुच का लह्ना मिल सकता है, यह यदि बिचारी प्रेमा के बालक मन ने मान लिया तो इस में आश्चर्य ही क्या है? जब कि उन के जैसे सयाने प्रौढ़ पुरुषों का भी जहाँ ऐसी बातों पर विश्वास जमता हो।

और तब प्रेमा का वह बालहठ देखकर मैं हँसूँ या रोऊँ यही मुझे न सूझता था। मेरी कमर में लिपटकर वह कह रही थी, 'जी जी! लह्ना मिलता है न? तो जा न वहाँ? अरे उस मठ में तो मैं भी अकेली रह सकती हूँ। इस में ऐसी बात ही क्या है? मुझे खेलने के लिये एक नन्हा-मुन्हा चाहिये! तू जल्दी जाकर ले आ न? फिर मैं उसे लोरियाँ गा गा कर खुशआँगी! चँदामामा दिखाऊँगी। और बैठ बैठ बबुआ कहकर खूब खिलाऊँगी।'।

चूहे को खिलते वक्त बिल्ली जिस शांत किंतु क्रूर दृष्टि से उसे देखती है, इस वक्त उन की भी कुछ ऐसी ही वृत्ति मुझे नजर आयी। यह देख कर मैंने भी सोचा आगे-पीछे मरना तो है, फिर ऐसे जीने का क्रूर खेल क्यों अधिक खेला जाय ?

अस निबिड़ निराशा में ही मेरे मुँह से यह भी निकल गया कि ' तो चलो, मैं सेवा में भी रहूँगी ? '

जैसे मन चाहा फल अपने आप गिरे, उसी भाँति मेरे स्वीकार के साथ साथ उन्होंने तुरंत ही मुझे मठ में भेजने की तैयारी कर डाली। मैंने मन ही मन कहा — मेरे पिताजी के बारे में मेरी दादी जली भुनी थी। किंतु सारे ही बाबा कुछ बुरे नहीं होते। यदि मेरे सेवा करने पर भी संतान न हुआ तो संभवतः अिनकी अंध-श्रद्धा भी न रहे। और अगर मैं न गयी तो जैसे तैसे शांत होने वाला घर का तूफान शायद फिर उमड़ पड़े। अस से मैं ही क्यों न अँधेरे गढ़े में कूद पड़ूँ।



अँधेरे गढ़े में कूदने वाले मनुष्य के मात्र हाथ पाँव ही टूटते होंगे। परंतु अस मठ में तो पल पल में मेरी भावना और श्रद्धा चकनाचूर हो रही थी।

मठ में पैर रखने के साथ ही मैं उस लुंगी बाबा के पैर पड़ने लगी। तब उसने सहज ही मेरी ओर देखा तो मुझे तुरंत बचपन में देखे हुअे उस सर्कस के शेर का स्मरण हो आया। किंतु अस चीते के लिये पिंजड़ा भी न था।

नमस्कार करके मैं अेक ओर खड़ी हो गयी और चारों ओर देखने लगी तो बाबा की ध्यानधारणा के स्थल पर बालगंधर्व और रघुवीर सावकार के स्त्री-वेश वाले फोटो लगे थे, साथ ही रामपंचायतन के चित्र के सामने ही अेक सिनेमा नटी के नाच का चित्र भी लगा था।

मेरा मन तो यह सब देखकर आक्रोश कर उठा। क्या यहाँ आनेवाले सैकड़ों लोगों को ये चित्र नजर ही नहीं आते। भगवान के भजन करनेवाले

भगतराज को जैसे चित्तों का क्या प्रयोजन ? यह सवाल क्या उनमें से किसी को भी नहीं सूझता ?

सच है, सूझने भी क्यों लगा ? गोबर के कीड़ों को कभी गोबर की बदबू आती है क्या ? जैसे भगतराजों के पीछे पड़ने वालों में मनुष्य कम, जानवर ही ज्यादा होते हैं । फिर वे चाहे सियार हो या खरगोश !

वह चित्तोपंत और वह मैनाबाबी, उन दोनों का ही चालचलन ठीक नहीं । यह उन्हें सिर्फ पाँच मिनट देखकर कोअी कह सकता है । परंतु वह उसे साथ लेकर प्रतिदिन मठ में जो आता है, बाबा के कानों में घुसपुस जो करता है, वह मैनाबाबी बड़े नखरे से बाबा की सेवा जो करती है, सभी कुछ विलक्षण है ।

पहले ही दिन बाबा ने मेरी ओर अशारा करके चित्तोपंत से न जाने क्या कहा कि तुरन्त ही चित्तोपंत मैनाबाबी के कान में घुसपुस करने लगा तब मेरी ओर देख कर वह कितनी हँसी । और साथ ही ' यह अशोक की माँ है ' चित्तोपंत के ये शब्द भी मेरे कानों में पड़े तो मुझे उसपर उसका कितना क्रोध आया ।

वैसे यह मठ गाँव से बाहर एक ओर था, तो भी शाम को वहाँ अिन भक्तों की खूब भीड़ लगती । रोज़ बाबा दर्शन देने और पैसे लेने बैठते, तो उन देने वालों के लिये मेरे मन में बड़ा धिक्कार आता । लगता मनुष्य और भेड़ों में कोअी फर्क नहीं है ? अिस बाबा को रुपया भेंट करने वालों को मार्ग में अेकाध अंधा भी मिला होगा ? चार-पाँच साल का अेकाध नंगा भूखा लड़का भी मिला होगा ? पर उनमें से किसी के हाथ पर उसने पाअी भी न रखी होगी । और यहाँ अिस मुण्डे को वह आकर रुपया भेंट कर देता है ।

यों रुपया देनेवाले की गोद में बाबा नारियल डालते तथा पैसा देनेवाले को तुलसीदल मिलता । जैसे दाम, वैसा काम ! यों उस बाबा के सामने रखी तश्तरी में पैसे डाल कर उसके पैर पड़ने वालों पर किसी भी समझदार को तरस ही आयेगा । किसी को अपनी ग्रहदशा बदलनी थी, तो किसी को नौकरी चाहिये थी, किसी को संतान की भूख थी । तो एक की रखेल औरत कहीं भग गयी थी, उसे उसका पता लगाना था । ये लोग

बाबा को आखिर क्या समझते थे ? यही मेरी समझ में न आता । क्या, देव और दैव दोनों ही बाबा के झंगे के जेब में हैं ?

परंतु बाबा बहुत बड़ा चाणक्य और चतुर था, यदि वह साधु न बना होता तो अवश्य एक उत्तम अभिनेता होता । बहुत पढ़ा लिखा न होने पर भी वह धाराप्रवाह प्रवचन-कीर्तन करता था । ज्ञानेश्वरी की कठिन ओवियों का अर्थ भी बताता था, सांसारिक दृष्टांत देकर लोगों का मनो-विनोद भी करता था । प्रसंग के अनुरूप मुख-मुद्रा भी बना लेता, उसकी वाणी में भी सम्मोहन था । और यही उसके धंधे की पूँजी थी । वह यूँ न तो वैरागी था, न तो उसकी भगवान ही से भेट हुआ थी । हाँ, मैं हजारों लोगों को झुला सकता हूँ, यह उसे अपने अनुभव से मालूम था । और अपनी इसी शक्ति का लाभ लेकर वह किसी राजा-महाराजा की भाँति सदैव भोगविलास में लवलीन रहता था ।

भजन-कीर्तन के वक्त उसे पान खाने का मन होता, लेकिन पान खाकर उस भाँड़ में थूके कहाँ ? तो कोअी न कोअी शिष्य सोने का पीकदान हाथ में लिये वहाँ हाज़िर ही होता । मैं जिस दिन मठ में गयी उस दिन यकायक पीकदान का अधिकारी शिष्य कहीं बाहर चला गया था, उस समय बाबा ने पीक थूकने के लिये जो मुँह बनाया तो एक जरी की साड़ा पहने हुआ स्त्री ने अपने हाथ में वह पीक ले ली, उस वक्त मुझे उस पर न जाने कितनी घृणा आयी । पता चला कि वह संतान की सेवा में रखी हुआ बम्बई के किसी सेठ की सेठानी थी ।

उस मठ में मुझे बिल्कुल एक ओर अकान्त कोने में एक कोठरी दी गयी थी । अलट पलट कर दो चेले प्रतिदिन मेरी खैर-खबर लेने आते, मुझे जो ज़रूरत होती ला भी देते । मठ के आँगन में से काफी शिष्य आते जाते । पर मुझसे कोअी भी बोलता चालता न था । एक प्रकार मेरी हालत किसी कैदी की-सी थी । चौथे या पाँचवे दिन मैं अपनी कोठरी के दरवाज़े पर खड़ी थी तो चार-पाँच शिष्य मेरे सामने से गुज़रे तो उनमें से एक का चेहरा मुझे कुछ परिचित-सा लगा । उस दिन पिछले दरवाज़े से बुलाकर जिसे खाना खिलाया था, वही लड़का वह !

उसे आवाज देने के लिये मैंने मुँह खोला ही था कि उसने आँखों से

मुझे चुप रहने का अशारा किया और मेरी ओर पुनः न देख कर वह चला भी गया ।

आखिर यह कब से यहाँ चेला बना ? उस के चुप्पी के अिशारे का क्या मतलब है ? यह सब सोचते सोचते मुझे रोना आता । तथा प्रेमा, प्रभाकर और अशोक की मुझे रह रह कर याद आने लगी । उस दिन, सारे दिन किसी काम में भी मेरा मन नहीं लगा ।

अंधेरा धिरने लगता कि मठ का विशाल ओसारा और भी डरावना हो जाता । वैसे तो बहुत पुराना मकान था । कहीं कहीं एकाध दीया टिमटिमाता होता । पर उस धुँधली रोशनी में कुछ अजीब परछायाँ आँखों के सामने नाचने लगतीं और मन अकदम डर जाता । रात बढ़ती जाती तो साथ ही सियारों का रोना भी सुनायी देता ।

दस के लगभग बजे होंगे । सबेरे के उस लड़के के अिशारे का क्या मतलब हो सकता है ? इस बारे में मैं विचारमग्न थी कि मेरे पास प्रतिदिन आनेवाले शिष्यों में से एक बड़ी तेज़ी से आया और बोला कि 'माझी ! आपका पुण्य बहुत बड़ा है, गुरुमहाराज आपकी ओर ही आने को निकले हैं । वे जो उपदेश दें, उसे बिल्कुल शांति से सुनिये, कतभी किसी किस्म की चूँ चूँ न कीजियेगा ? नहीं तो —'

तब सर पर लाठी का प्रहार होने पर जैसे मनुष्य बेहोश हो जाता है, वही हालत मेरी हुभी । वह बाबा अब मेरी कोठरी में आकर गुरुमंत्र देनेवाला था —

अतने में ही स्वयं बाबा के शब्द सुनने में आये, वह चेलों से कह रहा था कि 'तुम लोग मंदिर में जाकर बैठो; इस ओर किसी को पटकने भां न देना !'

अब बाबा कोठरी के अंदर आ गया था, उसने किवाड़ें बंद कर दीं, किंतु कुंडी नहीं लगायी थी, इससे मुझे कुछ आश्वासन मिला, मैंने तब खिडकी की ओर भी देखा, उसमें छहें न थीं । तब तो मुझे और ढाढ़स बँधा ।

वह धीरे धीरे मेरी ओर बढ़ रहा था । आलोक में आँखें चमकने से

नाग भी जहाँ का तहाँ कीलित-सा रह जाता है। अतः मैं अपने मन का सारा रोष आँखों में अंकुश कर उसे घूरने लगी।

वह कदम ब कदम आगे ही बढ़ रहा था, साथ ही ही करके हँसता हुआ वह बोला, 'मानों क्रोध तो नाक की नोक पर ही बैठा है। भले बैठे ! किंतु वह मेरी, अंकुश में अड जायगा। मेरे मंत्रों में सामर्थ्य ही ऐसा है।'

अब मेरी छाती अवश्य धड़कने लगी। तब वह अंकुश पास आकर बोला, 'कान तो कर इस ओर; पुत्रप्राप्ति का मंत्र कान में ही कहा जाता है, यदि वह षट्कर्णी हो गया तो उसका गुण चला जायगा।'

असकी उस घोर विषैली नज़रने मेरे कलेजे का पानी पानी कर दिया। अब मुझे विश्वास हो गया कि मेरी अस्मत् खतरे में है। मैं सिनेमा चली गयी तो बिगड़ जाऊँगी ! इसलिये तो दादी ने मुझे संगीत तक न सीखने दिया था। परंतु आज तो धर्म-कर्म के नाम पर सारे समाज को नचानेवाले इस नरपिशाच की मैं बलि बनने जा रही थी।

अतः जब मैंने उस खिड़की से बाहर कूदकर जान देने का निश्चय किया तो उस नरपशूने मेरी कलाई कसकर पकड़ ली।

असपर मेरा सारा शरीर पसीने पसीने हो गया। और मेरा गला रुँध गया। मेरी सारी सुधबुध शून्य-सी हो रही थी। इस समय मैं कहाँ हूँ ? इसका शायद अशोक को पता भी न होगा। तो भी मैं अपनी जान पर आ बनी समझकर जोर से चिल्लाई अरे, 'कोभी दौड़ो, दौड़ो, अशोक — दौड़ो —'

'अच्छा ! अशोक !' वह राक्षस मुँह विचका कर बोला। अतने में धड़क से दरवाजा खुला, कोभी दौड़ता हुआ अंदर आया और उस बाबा के गले में अंकुश फँदा डाल कर कस दिया तो वह धड़ाम से जमीन पर गिर पड़ा। और आवाज़ न दे सके जिसके लिये उस के मुँह में कपड़ा ठूँस कर उस व्यक्ति ने दीया (चिराग) तो अंकुश फूँक से बुझा दिया तथा तुरंत मुझे साथ लेकर वह बाहर आँगन में आया। उस आँगन के अंकुश कोने में अंकुश सुरंग-सी थी, उसने तुरंत मेरा हाथ पकड़ कर उसमें से मुझे निकाल कर बाहर सड़क पर ला खड़ा किया। वहाँ

सड़क की रोशनी में मैंने देखा तो मेरी मदद करनेवाला यह वही लड़का था ।

दुर्दैव ने थोड़ी देर पहले लबालब विष का प्याला मेरे होंठों तक ला दिया था किंतु तुरंत ही यह अमृत प्याला भी अुसीने ला दिया । अस्तु —

वह बोला ‘माअी, चलो, भागो ! घर चलो ।’

घर चलें ? किस घर चलें ? अुस घर ने ही तो मुझ पर यह वज्रपात किया था । मैंने अुस से कहा, ‘मेरा कोअी घर नहीं ।’

तब मेरे कहने का मतलब वह समझ गया और बोला, ‘कोअी घर नहीं ? न सही, जाने दो, मेरे जैसा लड़का तो है न !’

अिसपर अेकदम मेरा गला भर आया, और साथ ही अशोक की याद आते ही मैंने कहा, ‘अवश्य ! मेरे घर तो नहीं, लेकिन लड़का अवश्य है ।’

‘यहीं ?’

‘हाँ ! यहीं !’

तब मैंने अशोक का अतापता बताया, जो कि घर आने पर बातों ही बातों में अुसने मुझे बताया था । अितने में ही सड़क से अेक ताँगा निकला, अुसे ठहरा कर हम दोनों अुस में बैठ गये । अब अुसे मुझे अशोक के घर पहुँचाकर बम्बअी भाग जाना था । क्यों कि यहाँ रहने पर अुस की जान को खतरा था ।

वह बोला, ‘आप नहीं समझ सकतीं । मैं जो यहाँ बना रहा, यह बाबा मुझ से अवश्य बदला लेगा । मुझे चाहे जैसे अुस दुनिया से ही विदा कर देगा । अुसकी मुट्ठी में सेठ-साहूकार हैं, अखबार हैं और हत्यारे भी हैं । बम्बअी बड़ी है, यहाँ किसी को किसी का पता चलना बहुत कठिन है ।’

ताँगा आकर अशोक के घर के पास रुका । मैंने पहले ही हाथों की दो सोने की चूड़ियाँ उतार ली थीं, अुसे देने लगी तो वह लेता ही न था । अिस पर कृतज्ञता से मेरी आँखें भर आयीं । वह बोला, ‘माअी, बम्बअी गरीबों की माता है, यहाँ मैं आपके आशिश से अवश्य कहीं पेट भर लूँगा ।’

ताँगा आँखों से ओझल हो जाने पर फाटक खोलकर मैं अंदर गयी, पर मेरे पैर आगे न पड़ते थे। पाँव लड़खड़ाने लगे। क्यों कि अशोक के घर आखिर अितनी रात गये ऐसी शर्मनाक हालत में आनेका अवसर मुझ पर आ पड़ा था। मैं पीछे मुड़ी तो अँधेरा ही अँधेरा था, प्रकाश की किरणें फक्त बाग में नाच रही थीं, सो भी अशोक के कमरे से आ रही थीं।

वस्तुतः बुखार चढ़ने पर मनुष्य पर अितनी सुस्ती सवार नहीं होती, जितनी कि बुखार के अुतार पर। मेरी भी वैसी ही हालत थी। मठ से भागने के वक्त मैंने अपने शरीर की सारी शक्ति एकत्र कर ली थी। पर अब मुझे चक्कर आने लगे। ऐसा लगता था कि जैसे मैं बाग में ही गिर पड़ूँगी।

किसी प्रकार मैंने उस के कमरे का दरवाजा खोला। वस्तुतः तो वह खुला ही था। अशोक कुछ लिख रहा था। किवाड़ खुलने की आहट पर उसने मुड़कर देखा तो जैसे भूत को देखकर मनुष्य सहम जाता है। उसकी भी वही हालत हुअी।

मैंने जब आँखें खोलीं तो मेरे सिरपर बरफ की कोयली थी। अशोक मेरे पास ही बैठा था। पाँच मिनिट में ही मुझे होश आ जाने पर उसे कितनी खुशी हुअी। परंतु मैंने सोचा कि बेहोशी में ही मेरे प्राण क्यों न चले गये ?

तब पाँच-सात टूटे-फूटे वाक्यों में मैंने सारी घटना बयान की। अब आगे क्या होना था, जिसका भविष्य मुझे स्पष्ट ही भासने लगा। अतः अशोक को संकट में डालने की अपेक्षा —

मैं अुठ कर दरवाजे की ओर चली तो अशोक ने मेरा हाथ पकड़ कर मुझे पुनः बिछौने पर बिठा कर गुस्से से कहा, 'कहाँ चली तू ?'

'जान देने !'

'किंतु तेरी जान अब तेरी नहीं, मेरी है; ध्यान रख, सारा संसार तुझे तज दे तो भी तू अब अकेली नहीं है।'

अशोक के ऐसे शब्द सुन कर मेरा मन भर आया, उस के प्रेम से मेरा कमज़ोर कलेजा दबसा गया। अशक्त होकर मैंने उस के कंधे पर सर रख दिया, तब जैसे कोअी बाप भयभीत बेटी को थपथपाते उस तरह वह मुझे दिलासा देने लगा।

अिसी बीच 'अरी मेरी माँ' कोअी चीख अुठा। हम दोनों ने दूर होकर देखा तो वह चित्तोपंत-मैनाबाअी और अुन के साथ अेक लड़की थी —

अब तो मैं लाज के मारे ज़मीन में गड़ गयी।

● ● ●

१२

अ शो क

नयी माँ के पास से लौटने के बाद मैंने अपने आपको काफी काम में जुटा लिया था। जैसे कोअी कडुअी दवा मधु में दी जाती है, दुख का भी वही हाल है। अुसे यदि कामकाज के मधु में मिला दिया जाय तो फिर अितना कडु नहीं रहता। और कामों के साथ साथ मैंने पूना-बंबअी के अखबारों के लिये बुआबाजी पर अेक लेखमाला भी लिखना शुरू कर दिया था। यहीं के अेक अखबार, अेक भोंदू बुआ का विज्ञापन करके समाज का कितना नुकसान कर रहे हैं, यह मैंने पहले ही लेख में भली भाँति स्पष्ट कर दिया था। यह लेखमाला और हाथ के नीचे के अन्य काम पूरे करके अगला रविवार मैंने पुष्पा के लिये रिज़र्व रख लिया था।

परंतु दैव भी बिष्कुल किसी नटखट लड़के के समान है। मनुष्य के सुंदर सुंदर मनोरथ विस्तार कर देने में मानो अुसे मज़ा मिलता है।

अुस लेखमाला के दो लेख छप जाने से बड़ी खलबली मच गयी थी। अतः तीसरा लेख मैं बड़े अुत्साह से लिख रहा था। करीब ग्यारह बजने को थे, परंतु चंदु भजन में गया था और मैं लिखने में मस्त था।

किवाड़ खटके। कौन चंदु ! नहीं माँ !

तब बेहोश होनेवाली माँ को मैंने किसी प्रकार बिछौने पर लिटाया, पाँच मिनट में ही वह होश में आ गयी। पर जान देने के सिवा उसे और कुछ सूझता ही न था। उसने किसी बीमार बच्चे की भाँति जब मेरे कंधे पर सर रखा और मैं उसे सांत्वना देने लगा।

ठीक अठनी रात गये पुष्पा का मेरे घर आना ! दुर्दैव ही है।

अतः पुष्पा को सफ़ाई के लिये मैंने आवाज़ भी दी, पर वह रुकी ही नहीं। तो मेरा अहं भी जाग उठा, पर पाँच ही मिनट अपनी गलती मुझे खली। क्यों कि अहं के अभ्र से प्रेम का बौर बिखर जाता है। बाद में मैं बाहर भी आया, किंतु पुष्पा की मोटर चली गयी थी।

रातभर मैं माँ के सिरहाने बैठा रहा। वह बीच बीच में पागलों की भाँति न जाने क्या बड़बड़ाती, अठ पड़ती और दरवाज़े की ओर दौड़ती !

सबरे माँ की हालत कुछ ठीक होने पर मेरा पुष्पा के घर जाकर उसे समझाने का विचार था। क्यों कि पुष्पा अलहड़ होने पर भी सहृदय थी। इसका मुझे पूरा पूरा विश्वास था।

किंतु भली भाँति अुजाला भी न हुआ था कि सड़क पर अख़बार बेचनेवाले चिल्लाने लगे कि, 'पाजी प्रोफ़ेसर ने लड़की भगायी, लुंगी बाबा की घर्मपीठ पर हमला।' यकायक यह सुन कर तो मैं नौचक्का ही रह गया। आख़िर क्या किस्सा है यह जानने के लिये मैंने दो तीन पल खरीदे और पढ़े तो धक्-से रह गया।

आख़िर मेरे पीठ पीछे यह विषैला छुरा भोंकनेवाले कौन लोग थे ?

मैंने माँ के हाथों को भी अख़बार न पढ़ने दिया तो उस को क्या कान नहीं थे ? वह सिसकती हुअी बोली, 'अशोक ! मैंने कितनी बड़ी भूल की है ? अगर तेरे पास आने के बजाय कोअी अंधकूप खोज़ा होता तो —'

'तो अपनी माँ की रक्षा भी न कर पाने का पश्चात्ताप अशोक को आजन्म बना रहता !'

'ऐसी रक्षा से भी क्या लाभ ? आख़िर ये बवंडर —'

तो-उसे दिलासा देने के लिये मैंने कहा, 'माँ ! डाल से गिरे हुअे पत्ते ही सदैव बवंडर के साथ उड़ते फिरते हैं परंतु डाल पर लगे हरे पत्ते सदैव अपनी जगह पर ही हँसते रहते हैं। तेरी ऐसी देवी को जो दोष दे —'

वह कष्ट से कहने लगी, 'क्या कहा ! देवी ! देवालय से बाहर हो जाने पर प्रतिमा मात्र पत्थर ही रह जाती है ।'

'परंतु टाकियों की चोट से पत्थर की भी प्रतिमा बन जाती है ।' मैंने कहा ।

तो उस के मुख पर आशा की छटा चमकी कि अितने में ही —

आवेशभरे पिताजी ने प्रवेश किया । वे अकदम क्रोध से काँप रहे थे । माँ पर झपटते हुअे वे बोले, 'चांडालिनी ! मेरे मुँह पर जो अिसी तरह कालिख पोतनी थी जो उस मठ में वो महाराज क्या तुझे खा जाता, जो तू अिस कुलांगार के साथ साँठगाँठ करके भाग आयी ? ज्यों कि त्यों मठ में चल, महाराज के सामने नाक रगड़ और चुपचाप अुनकी सेवा में लग ।'

तब किसी यांत्रिक कठपुतली की तरह माँ अुठकर चलने लगी तो मैंने अुसे रोककर कहा, 'पिताजी ! अब मैं माँ को वहाँ हरगिज़ न जाने दूँगा !'

तब वे बोले, 'तू कौन है रे रोकने वाला ? मैं अुसके शरीर पर गहने पहनाऊँ या दाग़ दूँ ! अिसे घर में रखूँ या मठ में भेजूँ । मैं अुसका पति जो हूँ ।'

'और मैं अिस का पुत्र हूँ, अिसे कोअी दाग़ देगा तो अुस का हाथ वहाँ का वहीं —'

अिस पर वे गुस्से से आगे बढ़े, पर माँ ने मुझे पीछे खींच लिया तो अच्छा हुआ । नहीं तो —

तब माँ निराश होकर बोली, 'अशोक, तेरी माँ तो अुसी दिन मर गयी, मन के खिलाफ़ मैं जिस दिन वो मठ में गयी । अुसने तो आत्महत्या कर ली, अब जो तेरे सामने खड़ा है, ये तो अुसका भूत है । तो जाने दे न ? वह भले ही कहीं भी क्यों न जाय ?'

तो पिताजी चिढ़कर चीखे कि, 'और मैं भूतों को थरथर कँपानेवाला मांत्रिक हूँ !'

अिस पर मैंने माँ से कहा, 'माँ, तू भूत-प्रेत कदापि नहीं, मनुष्य है मनुष्य ! आज से तू प्रेमा की बहन नहीं, अशोक की माँ नहीं, पिताजी की पत्नी नहीं; आज से तू मात्र मनुष्य है । ओर जहाँ मनुष्यता का अपमान

होता हो, वहाँ तू कभी मत जाना, तू इस तरह अँधेरे गढ़े में न कूद, तुझे मेरे सर की कसम है ।’

मेरी बातों से बढ़कर शायद मेरी शपथ का ही उस पर प्रभाव पड़ा । वह जहाँ कि तहाँ ठहर गयी ।

अस पर पिताजी, ‘बच्चा अगर प्रसव में जन्मा का काल बने तो उसे काट डालना चाहिये ?’ कुछ ऐसा ही बढ़बढ़ाते तेजी से चले गये । मैं माँ को हरगिज न जाने दूँगा असका अन्हें पूर्ण विश्वास हो गया था ।

पिताजी के चले जाने पर माँ बोली, ‘अगर तू ने कसम न दी होती तो अच्छा होता ।’

मैं उसे कुछ उत्तर दूँ, इसी बीच चंदू अक पत्र लेकर अंदर आया) पत्र पढ़ते पढ़ते मैंने मध्य में ही सर अपर अुठाया तो देखा माँ का भुँह अकदम पीला पड़ गया था ।

मेरे पत्र पूरा करते ही असने काँपते हुअे स्वर में पूछा, ‘और क्या अफत आयी ?’

मैंने हँसते हुअे कहा, ‘कुछ नहीं । मुझे यों ही कॉलेज से बुलावा आया है ।’



माँ को जवाब देते मैं हँसा तो सही, पर वह हास्य कृत्रिम था । मैंने सोचा, कलतक मेरा जीवन अक क्रीडांगण था, आज से वह सचमुच रणांगण बन गया है ! मैं चाहता था, मेरे जीवन में भी कभी बिजली चमके, किंतु निरभ्र आकाश में बिजली कभी नहीं चमकती । बिजली चमकने के पहले तो बादलों को जल से भरपूर हो कर झुक जाना चाहिये । सचमुच वे अब भरपूर भरकर झुक गये थे ।

कॉलेज के बाहर खड़े हुअे छात्रालय के छात्रों के जमघट कों देखकर ही मैंने आने वाले प्रसंग की पूर्ण कल्पना कर ली । अखबारों द्वारा सबेरे लगायी हुअी आग भड़क कर असकी ज्वालाओं कॉलेज तक पहुँच चुकी थी । छात्रों का प्रणाम लेता लेता जब मैं आगे बढ़ रहा था, अस समय अक छात्र ने जिस के हाथ में वह अखबार था, मेरे देखते असके टुकड़े टुकड़े कर दिये । तब अस की यह मौन सहानुभूति मुझे बहुत ही सुहायी ।

पर अंदर गया तो वहाँ वालों में सहानुभूति का नाम तक न था। प्रिन्सिपल साहब एक बुत की तरह बैठे थे। किसी की मृत्युशैया के पास जैसे मंद स्वरों में बोलते हैं, उसी प्रकार कार्यकारिणी के सदस्य गुपचुप घुस-घुस कर रहे थे। मेरे सहकारी भी मुझे साशंक दृष्टि से देख रहे थे।

बाहर छात्रों का उत्साह उमड़ पड़ रहा था। उस विलक्षण जमघट का 'अशोक निर्दोष हैं, अशोक निर्दोष हैं' का निर्घोष अंदर सुनायी दे रहा था। एक बार तो स्वयं प्रिन्सिपल को भी अिसी लिये अुठ कर खिड़की के पास आना पड़ा। उन्हें देख कर वे अवश्य चुप हो गये।

और अन्दर अिन्साफ करने के लिये बैठे हुए सभी बड़े लोगों के मुख पर एक भाव अंकित था कि 'अशोक गुनहगार है'। मेरे मन में आया कि मनुष्य जैसे जैसे बड़ा होता जाता है, वैसे वैसे मानवता पर उस की श्रद्धा मानों कम होती जाती है। वयस्क व्यक्ति का अच्छी की अपेक्षा, बुरी बात पर ही शीघ्र विश्वास बैठता है। जीवनयात्रा में पाँवों में चुभने वाले काँटों की कल्पना से उन का मन अितना सुन्न हो जाता है, अतः आसपास में विकसित सुमनों की सुवास का भी अुन्हें आभास भी नहीं होता। कल रात वास्तव में क्या घटना घटी, अिसका तो न बाहर के विद्यार्थियों को ही सच्चा पता है न तो अंदर के अधिकारियों को ही। सत्य सदैव सात पर्दों के पीछे छिपा होता है, पर—

प्रिन्सिपल साहब मुझे मुख़ातिब करके बोले, 'अशोक ! आज तुम्हारे कारण हमारे कॉलेज के नाम को कलंक लगा है।'

मैंने शांति के साथ पूछा, 'आप अिस खबर को सच मानते हैं क्या ? वह मोटे शीर्षकों में छपी है, अिसी लिये। याद रखिये, अखबारों में जैसी गंगा होती है, उसी तरह गटरें भी होती हैं।'

वह 'वृषभ' पत्र का भूतपूर्व संग्रहक भी कार्यकारिणी में था, अतः वह अिस बात पर आपसे बाहर होकर चिल्लाने लगा, कि 'अशोक को अपने शब्द वापिस लेने चाहिये !'

अब माथा ठंडा रखना कठिन था, अतः मैं उन सभी को अुद्देश्य करके बोला, 'मैंने जो कुछ कहा, उसका एक शब्द भी झूठा नहीं है। कहिये, पाठकों की मानवता जगाने का काम आज कितने अखबार करते

हैं ! झूठमूठ भविष्य छापक़ार लोगों को ग्रहों का गुलाम बनाते हैं । सिने-सितारों की प्रशंसा के पुल बाँध कर अल्हड़ लड़के-लड़कियों के पराक्रम की कल्पना विकृत बनाते हैं । किसी मक्कार महात्मा के तत्त्वज्ञानका तुनतुना जोरों से बजाकर उन्हें जीवन का आक्रोश न सुनाभी दे, जिसका बड़ी खूबी से खयाल रखते हैं । सत्यनारायण का वर्णन, और बाबा के चमत्कार छाप कर वे लोगों को निर्बुद्ध बनाते हैं । '

मैं और भी न जाने कितना बोलता ।

प्रिन्सिपल बीच ही में बोल अुठे, 'अशोक ! तुम्हारे जैसे मेरे प्रिय छात्र तथा इस कॉलेज के इस समय सब से लोकप्रिय गुरु द्वारा अपनी संस्था के मुँहपर ऐसी कालोंच लगे, यह शोभनीय नहीं । '

जगत् के रंग कितनी जल्दी बदलते हैं, यह मोटी फ्रेम और मोटे काँच का चश्मा लगा कर अपनी कोठरी में बैठे अतिहास पढ़नेवाले मनुष्य को भला क्या पता चलेगा ।

तब मैंने प्रिन्सिपल की नज़र से नज़र मिला कर कहा, कि 'मैं पवित्र हूँ । '

अतने में ही कोअी अख़बार फड़फड़ाता हुआ बोला, कि 'ये रही अनि की पवित्रता की पताका । '

अब प्रिन्सिपल शांति के साथ बोले, 'तुम पवित्र हो न ? तो फिर अनि सारे अख़बारों पर मानहानि का दावा क्यों नहीं करते ? '

अस समय पलभर अदालत का दृश्य मेरी आँखों के सामने खड़ा हो गया । माँ को कठघरे में खड़ा किया जाय ? भला किस मुँह से वह अपनी कहानी वहाँ सुना सकेगी । विरोधी पक्ष के वकील असकी भावनाओं की चिंधी चिंधी अुडा देंगे । नाराज़ पिताजी की गवाही भी अुन के काम ही आयगी । पैसे के लिये बूढ़े से विवाह करके अपने सौतेले लड़के के साथ मौज़ मारनेवाली अेक काले कलेजेवाली औरत के रूप में लोग अुसे देखेंगे । छिः, माँ का जीवन कुछ वकीलों की विकृत बुद्धि या तमाशबीनों के मनोरंजन की वस्तु नहीं ।

अतः मैंने प्रिन्सिपलसाहब से कहा, कि 'अपने आदरणीय व्यक्ति की अदालत में विडंबना कराना मुझे अभिमत नहीं । '

तब उन्होंने गरमी से कहा, 'और अपनी प्रियतम संस्थाओं कॉलेज और अबलाश्रम की विडंबना तुम अपनी आँखों देख सकते हो। आज के अखबार पढ़कर इस कॉलेज में अपनी लड़की भेजने का कोअी भी सद्गृहस्थ साहस करेगा क्या ? और अबलाश्रम में भी —' कहते कहते उन के मुँह से शब्द निकलना कठिन हो गया। तब सारी शक्ति समेट कर वे बोले, 'अशोक ! समाज सब कुछ सहन कर सकता है। पर वह अपनी आँखों के सामने अपनी नीति का खून कभी नहीं देख सकता !'

अस पर मैं भी धुन्ध हो गया। मेरा स्वर मेरे ही कानों को कर्कश लग रहा था। मैंने प्रिन्सिपल को लक्ष्य करके कहा, 'अपनी नीति का खून समाज नहीं देख सकता। किंतु निर्दोष मनुष्य का खून वह खूब खुशी से देख सकता है, क्यों न ?'

यह सुनकर सभी स्तब्ध हो बये। असे मैं अपने बचाव का अच्छा अवसर समझकर कहता ही गया, 'अस खबर के पीछे अेक देवता के जीवन का कितना दुर्दीत दुःख भरा है, असको आप लोगों को — शाब्दिक नीति का डिमडिम घोष करने वाले समाज को कुछ पता है क्या ? चाहे घर की चहार-दीवारी में चिनकर कोअी स्त्री के प्राण ले ले, या रुढ़ी के राक्षस के पैरोंतले उसके जीवन-कुसुम को कोअी भले ही कुचल डाले ? अथवा पतिपने के नादान अधिकार से कोअी उसकी मनमानी विडंबना करे। तो यह सब सारा समाज खुशी आँखों हँसते हँसते देख सकता है। सर हिलाकर उस पर अपनी सम्मति की मुहर भी लगा सकता है, उसकी रक्षा के लिये अपनी अँगली तक नहीं अुठाता। परंतु उस स्त्री की सहायता के लिये यदि कोअी पुरुष अग्रसर हो वह उसे प्रेम से उसे साथ दे। तो 'खून, नीति का खून' कहकर चिल्लाने के लिये यहीं समाज अेक पाँव पर खड़ा होकर तैयार है। अैसी नकली खोखली सामाजिक नीति की मेरे मन में अेक कौड़ी की भी कीमत नहीं। नीति मनुष्यों के लिये होती है, मनुष्य नीति के लिये नहीं होते।'

बोलते वक्त मैं प्रिन्सिपल की ओर देख रहा था। उन की मुख-मुद्रा से उन्हें मेरी बातों में सत्य जान पड़ने लगा था। किंतु 'मनुष्य नीति के लिये नहीं' यह वाक्य होते न होते उन की बगल में बैठे हुअे अेक

डॉक्टर ने अधबीच ही मैं अठकर कहा, 'बस, अितनी देर में ये अेक ही बात तुम ने सच कही है। तुम्हारे जैसे यदि नीतिवान् बनने लगे, तो ऐसे मजेदार पत्र हमें कहाँसे पढ़ने को मिलेंगे ?'

जवानी की भूल की कारण संकट में फँसने वाली कुँवारियों और विधवाओं के गर्भपात करा करा कर यों तो ये हज़रत धनवान बने थे, ऐसा गाँव में प्रवाद था। और ऐसा मनुष्य मुझे नीति का पाठ पढ़ा रहा था ! अतः मैं उसे मुँहतोड़ उत्तर देना ही चाहता था कि प्रिन्सिपल ने उस के हाथ से अेक पत्र लेकर मेरे हाथ में दे दिया।

अुसे खोलते ही मुझे बिजली का-सा झटका लगा। वे तारा के अक्षर थे। मैं जब पत्र पढ़ रहा था, तब डॉक्टर महोदय लुंगी बाबा की गर्दन पर होने वाले जख्मों का वर्णन कर कुछ कह रहे थे। अुस में कोअी कोअी शब्द बीच बीच में मुझे सुनाअी पड़ता था। क्यों कि मेरा सारा ध्यान अुस पत्र में लगा था। अेक बार, दो बार, तीन बार वह पत्र मैंने पढ़ा।

‘प्रिय अशोक !

मैं मानती हूँ कि अपना प्रेम पाप है, परंतु मेरे हाथों यह पाप प्रति पल होता रहे, भगवान से मैं मात्र अितना ही माँगती हूँ। तुम मेरी ओर देख कर खामखा हँस देते हो, तो भी मेरा मन मानों फूल जाता है। और फिर तुम्हारी अुस तसवीर से मैं घंटों खेलती रहती हूँ, मैं बहुत बह गयी। मुझे क्षमा करें।

जनम जनम में तुम्हारी ही रहने की अभिलाषी,
तारा’

खोलते हुअे समुद्र में से जान बचाने के लिये कोअी ज़मीन पर आये और वहाँ आते ही भूकंप हो, अैसी ही स्थिति यह पत्र पढ़कर मेरी हो गयी।

मेरे मन की अस अस्वस्थता ने सभी का ध्यान खींचा। तब अुस डॉक्टर ने बड़ी विजयी मुद्रा से मुझे प्रश्न किया, ‘बोलो। मयसबूत के चोर पकड़ा गया न ?’

असपर मैं बोला, 'ये कोअी सबूत ही नहीं ! तब चोर किसे करार देंगे ?'

'याने ?'

'याने यह कि क्या अस लड़की को लिखा गया मेरे हाथ का कोअी पत्र भी आपके पास है ?'

'तुम्हारे जैसे गुरुघंताल भला लिखा-पढी के फेर में क्यों पड़ने लगे ! तुम्हारे जैसे लोग किसी को पत्र क्यों पठायेंगे ? वे तो रात बिरात अपनी माँ को भी गले लगाने में —'

यह सुनकर मुझे अितना ताव आया कि चाहे फाँसी ही भले क्यों न हो, अस मनुष्य का गला दबाकर अभी प्राण ले लूँ ! प्रिन्सिपल अगर बीच न पड़े होते तो अुसे मेरे हाथों का प्रसाद मिल भी जाता ।

किंतु अस प्रकार के आक्रमण से लोग मुझे अवश्य ही अपराधी समझेंगे, यह सोचकर मैं तुरंत ही चुपचाप पीछे हट गया ।

'अशोक ! डॉक्टर कुछ जो जबानपर आया, सो ही नहीं बोले बल्कि हम लोगों के पास असका प्रमाण है ।' प्रिन्सिपल ने गंभीरता से कहा ।

'प्रमाण है ?' मैंने पूछा ।

'हाँ हाँ, पक्का प्रमाण —' कहकर प्रिन्सिपलने डॉक्टर को कुछ अिशारा किया ।

तब मेरा खयाल था कि अब तो चिंतोपंत मेरे खिलाफ़ गवाही देने आयेगा । परंतु जब डॉक्टर के साथ मैंने पुष्पा को आते हुअे देखा तो —

जैसे तूफान और भूकंप के साथ ही कहीं बिजली भी कड़के अैसा आभास हुआ । वह बिजली न सिर्फ़ कड़की, किंतु मुझ पर गिर भी पड़ी । तब प्रिन्सिपल बोले, 'क्यों, तुम्हें प्रमाण चाहिये न ? पूछो अस लड़की से ।'

अुस समय पुष्पा मुझे पागलों की भाँति देखती हुअी थरथर काँप रही थी ।

'चलिये ! शीघ्र पूछिये जो पूछना है अससे । अिसे यदि अिसी बीच कहीं मूर्च्छा आ गयी तो मैना देवी मुझ से जवाब तलब करेगी । क्यों कि मैं अुन का फैमिली डॉक्टर जो ठहरा ।' डॉक्टर बोले ।

तब तुरंत पल भर में ही सारी बात मेरी समझ में आ गयी । चितोपंत ने तारा का पत्र पहले ही पैदा कर रखा होगा । मैना देवी के साथ मठ में जा जा कर लुंगी बाबा से उसने खूब जोड़तोड़ भिडा लिया था । माँ को भी उसने वहाँ देखा ही था । वक्त आने पर तारा का पत्र दिखा कर उसने पुष्पा का मन भी क्लुषित किया । उस वक्त काफ़ी रात बीते, जब पुष्पा मुझ से सफ़ाभी माँगने आयी तो वह अकल्पित दृश्य दिखा तब पुष्पा के साथ आये हुअे चितोपंत को वहाँ माँ नज़र पड़ते ही वह मठ में पहुँचा और वहाँ लुंगी बाबा की मरहम-पट्टी को आये डॉक्टर से भी उस की भेंट हो गयी । तब फ़ज़ीते के कारण बाबा पानी की तरह पैसा भी बहाने को तैयार हो गया होगा और उसे डॉक्टर और चितोपंत जैसे मददगार भी मिल गये ।

‘वृषभ’ पत्र के भूतपूर्व संपादक का अपनी रसोबीवाली महाराजिन के पूर्व प्रकरण के कारण मुझ पर दाँत था ही । बुवाबाजी पर मेरे लेखों से बाकी के स्थानीय संपादक भी चिढ़ बैठे ही थे । तब पापी पेट के लिये जो चाहें सो छापने वाले अनि टुकड़खोर अख़बारों ने अक़ रात में ही मुझे नामीगरामी गुंडा करार दे दिया ।

साँकर की सभी कड़ियाँ मिल गयी थीं । पर अब हो भी क्या सकता था ? इसी साँकरकी बनी बेड़ी मेरे हाथ-पाँवों में पड़ने वाली थी, यह खुले खज़ाने नज़र आ रहा था । अिसे मुक्ति का बस अब अक़ ही मार्ग था और वह था पुष्पा ! अतः —

‘पुष्पा —’ मैंने उसे पुकारा ।

दूसरी ओर देखती हुअी ही वह बोली, ‘तुम ने मुझे फँसाया, उस तारा को भी फँसाया, अब और कितनी औरतों का गला काटोगे ? और रात बिरात माँ भी अपने लड़के को गले लगाती है, क्यों न ?’

अस समय वह मनःस्ताप से पागल हो गयी थी, अीर्ष्यासे अंधी हो गयी थी । किंतु पागलोंकी बातका कभी कोअी बुरा मानता है क्या ? अंधेके टक्करा जाने पर कभी कोअी असपर बिगड़ता है क्या ?

वह सिसकती हुअी फिर बोली, ‘अशोक ! अखिर तुम्हें ये हो क्या गया है ? तुम अपना गौरव भूल गये, अपनी पुष्पा को भी भूल गये ?’

अतने लोगों के सामने सिसकने से लजाकर वह तेज़ी से वहाँसे चली थी। उस के अिन अुद्गारों में मेरे बारे में उस का स्नेह ही अधिक था। वहाँ बैठे हुअे लोगों को उस का ऐसा करना मेरे खिलफ़ पक्का प्रमाण ही गा। क्यों कि किसी की लाश की चीरफाड़ करने को ही वे वहाँ अेकत्र अे थे। जीवित जागृत मनुष्य की भावनाओं का अैसे समय अुन्हें भला से स्मरण हो सकता था ?

अंत में प्रिन्सिपल मेरी ओर देखकर बोले, 'बोलो ! अब — ?'

अुन का वाक्य पूरा करते हुअे मैंने कहा, 'अब, बस अेक ही मार्ग शेष ! और वह मुझे भली भाँति मालूम भी है।'

राजीनामा लिखते लिखते मैंने प्रिन्सिपल की तरफ़ देखा तो वे आँखों की कोर पोंछ रहे थे। तब मुझे अुनपर तरस आया कि आखिर मिथ्या त्रिबिक आसक्ति का अितना महान् मनुष्य भी कितना दास है ! चाहे कुछ ही हो पर संस्था चलती रहे असकी चिंता से बेचैन थे, अुन की न्यायबुद्धि त्रराष्ट्र बन गयी थी।

अंत में अुन के हाथ में राजीनामा देकर मैंने सबसे कहा, 'मित्रो ! आप बने सत्य की खोज़ की, किंतु सत्य चर्मचक्षुओं से नहीं नज़र आता। इ तो सच्चे हृदय के मनुष्य के मन की दिव्यता को ही दीखता है। मानवता को कुचलकर जीने के बजाय, मानवता की रक्षा करते करते मृत्यु का आर्लिगन ही मेरे मत में श्रयस्कर है। अच्छा सजनो, प्रणाम।'

अुस कमरे से बाहर निकलकर मैं जीना अुतरने लगा तो कुछ अुपर सं गेरा-सा मालूम हुआ। मैंने मुड़कर जा देखा तो वह पुष्पा के केशकलाप में लगा गुलाब का फूल था। सीढ़ी पर गिरते ही अुसकी पँखुरी पँखुरी बेखर गयी। मेरे मुड़कर देखते ही अुसने मुँह मोड़ लिया। परंतु अेकदम अंतिम सीढ़ी पर मुझे अुस का सिसकना सुनाई दे ही गया।

घर जाते हुअे मार्ग में प्रभाकर भी मिल गया। अुसे पिताजीने घर से नेकाल दिया था। मैं अुसे साथ लिये हुअे घर पहुँचा तो माँ चंदू को गरम भाँवा-हलदी का लेप लगाती नज़र आयी। मैंने पूछा —

'ये क्या हो गया रे ?'

'कुछ नहीं साहब, यों ही गिर गया !'

यह सुन कर माँ हँसी तो मैं समझ गया यह झूठ बोल रहा है। वह बाहर गया तब माँ ने झारा किस्सा सुनाया कि उसे साग लेने भेजा था। वहाँ अंक हाकर ज़ोर ज़ोर से आवाज़ लगा कर आज का अखबार बेच रहा था। चंदूने मना किया। वह न माना। तब दोनों लड़ पड़े। चंदू का कहना था कि अभी अखबारवाले उसके मालिक के पैर धो कर पीयें। हाकर का कहना था कि जब छपी है, तो बात सच ही होगी और अखबार अगर आवाज़ लगा कर न बेचा जाय तो पेट कैसे भरे ?

और प्रभाकर को साथ देखकर माँ बोली, 'देखा ! संकट पर संकट कैसे आता है ?'

मैं बोला, 'नहीं नहीं। सुख के बाद सुख ऐसे ही आता है। मुझे सिर्फ़ अभी अंक ही बात खल रही है, उसके बिना सुख अधूरा है। अभी प्रेमा को जो पिताजीने रख छोड़ा है !'

● ● ●

१३

सु शी ला

वे मेरे ऊपर अितने नाराज़ हैं कि प्रभाकर को घर से निकाल दिया । परंतु प्रेमा को ज़रूर अन्हों ने पास रख छोड़ा है । सचमुच वे अुसे बहुत प्यार करते हैं । तो अन्हों ने अस अुम्र में जो शादी की वह सिर्फ़ संतान की कामना से ही तो नहीं न ? मनुष्य की कामना कभी कम नहीं होती, क्यों कि वह मन की भूख़ जो है । खेल कूद की, विद्या की, जीवनसाथी की, संतान की, किसी न किसी वस्तु की भूख़ जिसे न हो, ऐसा संसार में कोअी नहीं । हाँ, आयुष्य के अनुसार अस भूख़ के रूप अवश्य बदल जाते हैं ।

अुन की वात्सल्य की भूख़ प्रेमा थोड़ी तो अवश्य शांत करेगी ही । पर अशोक के प्रेम की भूख़ ? चंदूने सब कुछ मुझे भली भाँति बता दिया है । अस दिन रात को चिंतोपंत और मैना देवी के साथ जो लड़की आयी थी । तो अशोक के सामने सजे पाँच पकवानों के थाल में, अनजाने ही मेरे हाथों कहीं जहर तो नहीं मिल गया न ? क्यों कि अस दिन से वह अेक बार भी यहाँ फिर नहीं आयी ।

अिस अेक बात से ही क्या ? क्या, असकी नौकरी भी मेरे ही कारण नहीं चली गयी ? किंतु असने तो सभी बातें मुझ से छिपाअी, परंतु

आखिर प्रभाकर ने मुझे सभी कुछ बता ही दिया । मेरे ही कारण आज सारे गाँव में उस की बदनामी भी हुई । उस की नौकरी छूट गयी तो भी 'माँ माँ' कह कर मेरा कितना मान रखता है । मैंने जब कहा, 'मेरे गहने बेच डाल', तो 'ये तेरे नहीं, तेरी बहू के हैं' कह कर उसने मेरा मुँह बंद कर दिया । प्रत्येक मास का बाकी बचा वेतन भी तो वह आश्रम को दे देता था । अतः आज उसके पास पचास रुपये भी शेष नहीं । 'अब कैसे काम चलेगा ?' यह पूछा तो बोला, 'माँ ! तेरे घर में तो चार ही जीव मात्र हैं, परंतु सारे जगत् में तो दो सौ कोटि मनुष्य हैं ।'

मैं मन में दुख न मानूँ, अतः वह सानंद होने का दिखावा करता है ! क्या, यह मुझे मालूम नहीं ? चंदू के हाथों पुस्तकें बिकवायीं और पैसे मेरे हाथ में देकर बोला, 'माँ ! ये घर पढ़ाने के पैसे हैं !' अशोक, अरे, झूठ बोलना कहाँ से सीख गया । तभी तुझे छोड़कर कहीं जाने का मेरे मन नहीं होता ।

और अशोक को छोड़कर आखिर जाऊँगी कहाँ ? उस के वे शब्द लगातार मेरे कानों और मन में गूँज रहे हैं । 'तू प्रेमा की बहन नहीं, अशोक की माँ नहीं, पिताजी की पत्नी नहीं, आज से तू मनुष्य है, केवल मनुष्य !' यह वाक्य जब मेरे तन मन प्राण में गूँजता है, तो अक नर्या ही दुनिया मेरी आँखों के सामने खड़ी हो जाती है । यद्यपि स्पष्ट तो कुछ भी नहीं दीखता, परंतु लगता है उस जगत् में मनुष्य को अपनी कोअी भी भूख मारनी नहीं पडती ।

साथ ही दादी की वह बात भी याद आयी कि 'घर ही स्त्री का संसार है' । अगर दादी आज होती तो —

मन कैसा कैची के बीच फँसा-सा लगता है । दो पहर को प्रभाकर कॉलेज जाता है, अशोक नौकरी की खोज में, सिर्फ मैं अकेली ही घर में रहती हूँ । अकेले आदमी को तो अँधेरे में ही डर लगता है, किंतु मुझे भरे दिन में भी अपने विचारों का भय लगता है । ऐसे समय चंदू किसी देवर्षि से भेंट कर के आता है, और खुशी से कहता है, 'माँ जी, देखो ! आठ दिन के अंदर अवश्य ही साहब को नयी नौकरी मिल जायगी । यदि न मिली तो उस ज्योतिषी ने मेरी चवन्नी मुझे वापिस देने को कहा है ।'

अज्ञान में भी आखिर कितना आनंद है !

प्रेमा की भी लगातार याद आती है । वे घर में न हों तब, उसे चुपचाप देख आने का बहुत मन हुआ, परंतु वे उसे साथ लेकर ही तो बाहर जाते होंगे न ? फिर —

एक दिन मैं उस की स्कूल के सामने से निकली । तो वहाँ पैर जैसे जम ही गये । परंतु मदरसे में जाकर उसे देख लेने का साहस मैंने नहीं किया । क्यों कि सोचा यदि किसी ने उन से यह बात कह दी तो छोकरी जो आज सुख में है, कल —

परंतु जब वह ही मुझे मिलने आयी तो मुझे आश्चर्य ही हुआ । मैंने पूछा, ' अकेली ही आयी है क्या ? '

' अँ, हुँ । '

' तो किसके साथ आयी है ? '

' पिताजी के । '

' वे कहाँ हैं ? ' यकायक मेरी छाती धड़कने लगी ।

' बगीचे में बैठे हैं । '

तब उन के प्रेमा पर वात्सल्य का कौतुक करें या अशोक से नाराजी कलक करें ? कुछ समझ में नहीं आता था ।

प्रेमा बिचारी बालक जो ठहरी ! क्या हो गया, यह उस की कुछ समझ में न आता था । उस की नज़रों में पिताजी भी अच्छे, जीजी भी अच्छी, अशोक भैया भी अच्छे, तब पिताजी ने, ' अशोक के घर पैर न दंगे, जीजी का मुँह भी न देखेंगे ' जो कहा, उसे वह कैसे समझे ? मदरसे में दो तीन बड़ी लड़कियों ने कहा कि ' तूरी जीजी भाग गयी ' तो उस ने सहजभाव से जवाब दिया, ' झूठ ! वह तो यहीं अशोक भैया के घर है ! '

उस का यह उत्तर सुन कर वे लड़कियाँ खी खी करके क्यों हँसीं ? यह भी कुछ उस की समझ में न आया ।

और अपना यह दर्द मेरी गोदी में मुँह छिपा कर बताते हुअे लगातार उस की आँखों से पानी बह रहा था । तब मैंने उसे खुश करने के लिये उस का मनपसंद गीत उसे सुनाया —

धाव पाव नंदलाल बोल गोड बोला *

अंतरिं चा हा छकुल्या शांतवी अन्हाळा

तब हँसती वह विदा हुआ । मेरे मन में आशा का एक अंकुर उत्पन्न हो गया कि आज अगर वे बाग तक आये हैं तो कल घर तक भी अवश्य आयेंगे । और दरवाजे में आते ही मैं उन के पैर पकड़ लूँगी । सब कुछ भली भाँति उन्हें बताऊँगी । अशोक के लिये उन के आगे आँचल फैलाऊँगी । कुछ भी कहूँगी, पर अपने घर को यों बिगड़ने न दूँगी ।

मनुष्य जो एक दूसरे से खुले दिल से बातें करते हों तो — दूसरों के दुख को अपना समझने जितने अुदार मन के होते तो — मुश्किल है । मनुष्य पैसे लुटा सकता है, प्यार के लिये जान भी बिछा सकता है, किंतु अपनी भूल कभी कबूल नहीं कर सकता । अपने को दूसरे की दृष्टि से कभी नहीं देख सकता ।

मैं सोच रही थी कि शाम को अशोक घर आयेगा तो उस से कहूँगी कि आज यहाँ प्रेमा आयी थी, और तब हम सब मिल कर खूब खुश होंगे । पर वह आया तब अकेला नहीं था, उस के साथ वह मुर्दार चितोपंत भी था । अशोक तो उसे दरवाजे से ही टाल देना चाहता था, पर वह ठहरा पक्का चिप्पु ! स्वयं ही अंदर आ कर कुर्सी पर बैठ गया । उन दोनों की बातें मुझे भली भाँति अंदर सुनाभी देती थीं ।

चितोपंत बोला, 'आपने नाहक ही आश्रम से त्याग-पत्र दिया । लड़कियाँ आपको बहुत याद करती हैं । आपके आश्रम छोड़ने से वह तारा भी निकल गयी ।'

अशोक ने कहा, 'चितोपंत ! नगर की नज़रों में अशोक अनीतिमान है, अतः आप जैसे सभ्य मनुष्य उस के घर जाते हैं, यह लोगों को पता चला तो —'

※ धाव पाँहि नंदलाल मधुर बोल बोलो,
मन की ये जलन हरो, अमृतरस घोलो ।

‘ अजी, इसमें क्या रखा है ? मैं कह दूँगा कि मैं आश्रम के लिये चदा लेने गया था । अच्छा, जाने भी दो अन बातों को । किंतु देखो, अशोक ! आप दुनियादार क़तली नहीं । देखिये, यह जो आपकी माँ या कौन देवीजी हैं, उन्हें अपने घर के बजाय किसी दूसरी जगह रख दीजिये । फिर देखिये आपको कोअी कुछ पूछेगा तक नहीं । आप पुनः प्रोफेसर भी बन जायेंगे, पुनः अबलाश्रम के मंत्री भी बन जायेंगे । और तो क्या, वह पुष्पा भी पुनः — जगत् यह कभी नहीं कहता कि पाप मत करो, परंतु उसका केवल अितना ही कहना है, कि जो कुछ करो, गुप्तचुप करो । ’

तब तो अशोक ने उस को सीधा दरवाज़ा दिखा दिया ।

● ● ●

१४

अ शो क

‘ पाप करो तो गुप्तचुप करो ’ ! कितना निर्लज्ज है यह चिंतोपंत । परंतु
अुसने जो कहा वह झूठा था क्या ? समाज को कटु सत्य नहीं चाहिये ।
शक्र-सा सत्याभास चाहिये, नीति नहीं । नैतिकता का कोरा प्रदर्शन चाहिये ।
क्यों कि सत्य और नीति का सच्चा स्वरूप तो सुखी दुखी किसी को भी
नहीं दीखता ! जलनेवाले मन के आलोक में ही —

नैतिकता का खून ! लोग कहते हैं अशोक ने नीति का खून कर दिया ।
तो क्या, मानव-धर्म का पालन ही नैतिकता का खून है ? सच है । सफेद
को काला करके चाहे जिसका मुँह काला करने वाले अखबार नीति का खून
नहीं करते । ढोंगी बाबाओं के पीछे दौड़कर समाज को भी उन का गुलाम
बनाने वाले पढ़े-लिखे लोग भी नीति का खून नहीं करते । जिस समाज में
हजारों स्त्रियाँ अपना शील बेचे बगैर जी ही न सके उसे चलने देने वाले
भी नीति का खून नहीं करते । ग़रीबों को चूँसकर उन की खून की मादक
मदिरा आँखें मूँदकर गलाटा जाने वाले पूँजीपति भी नीति का खून नहीं
करते । तो क्या, भूत-प्रेतों को भगवान समझकर पूजने वाले समाज का जो
विरोध करते हैं, वे नीति का खून करते हैं ?

मैंने खून तो अवश्य किया, पर वह असत्य का, अनीति का, मानवता की कीमत न आँकने वाले अज्ञान का खून था। क्यों कि मनुष्य न पत्थर की प्रतिमा ही है न निसर्ग की सीमा में बद्ध पशु ही। वह न दीखने वाले देव, मदोन्मत्त बना देने वाली मोहक लक्ष्मी, उपदेश में सरल पर आचरण में निर्जीव कठिन तत्त्व 'दर्शन' को, अपने सपनों की सृष्टि को मोहमंडित बनाने वाले कोअी महात्मा, पंडित, पुस्तक किसी का भी गुलाम नहीं है। जो समाज ऐसी गुलामी की पीठ ठोकता है —

राजीनामा दे कर जब से घर आया हूँ, तब से मेरे मस्तिष्क में ऐसे विचारों के न जाने कितने ज्वालामुखी भड़क उठे थे, उनको गिनती कठिन है ! शांत समुद्र में उठने वाली लहरें और तूफानी समुद्र में उठने वाली लहरें अनि दोनों में जितना अंतर है, उतना ही पहले और आज के अशोक में था। रात हुआ कि मेरे विचारों का तूफान और भी जोर पकड़ता। रसोअी-घर का कामधाम पूरा करके मैं अभी सोया या नहीं, यह देखने के लिये माँ अक बार मेरे बिछौने के पास चक्कर ज़रूर लगा जाती। उस की पदचाप सुनाअी देते ही मैं आँखें मीच कर अक बार सोने का स्वाँग अवश्य करता था। तब वह सतोष की साँस लेकर लौट जाती। मैं मन में सोचता कि यदि और कोअी काम न भी मिले तो अभिनेता होने में तो हर्ज ही क्या है ? सबरे ही अक मीठी भूपाली गुनगुनाती हुआ माँ घर के कामकाज में लग जाती। बीच में ही मैं अभी जगा या नहीं, यह भी वह देख जाती। मेरे मुँह पर ओढ़ना होने से वह समझती कि अशोक अभी गहरी नींद में सोया है, उस के गले से और भी मधुर स्वर निकलते।

दर असल मैं माँ को छलता था। उसे सच बात बताने से भी क्या लाभ होता ? योद्धा कभी अपने जख्मों का गीत गाता नहीं बैठता। और मेरे अनि जख्मों से बहने वाले रुधिर की अपेक्षा लाखों लोगों की आँखों से बहने वाले आँसुओं का महत्त्व अधिक नहीं है क्या ?

और वह तारा — किसी की आवाज़ में मिठास न हो तो भी वह स्वयं ही नहीं गुनगुनाता रहता है क्या ? तारा के प्रेम-पत्र भी ऐसे हैं थे। परंतु उसे किसी ने भी सहानुभूति से नहीं देखा। उस की जैस

जवान लड़कियों का मन अितना क्यों तड़पता है, यह देखने को कोअी भी माँ का लाल तैयार नहीं हुआ । अिन नीति के रक्षकों ने मेरे हटते ही दूसरे या तीसरे दिन ही उसे आश्रम से निकाल बाहर किया । बिचारी कहाँ भटकती होगी, कौन जाने ! और उस मैना देवी के बारे में मुँह खोलने की भी किसी की छाती नहीं । आज का समाज कितना ढोंगी हो गया है । उसे पुलिसों से हाथ मिलाने वाले चोर चल सकते हैं, पुलिसों को हाथ बताने वाले चोरों को भी निभा सकता है, किंतु महज चोरी की अिच्छा करके चोरी न करने वाले ग़रीबों को कभी यह समाज बर्दाश्त नहीं कर सकता ।

उस लुंगी बाबा को लगे ज़ख़मों की ख़बर अख़बार रोज़ छापते थे । पर बिचारे चंदू के हाथ में होनेवाला ज़ख़म — उसकी कौन परवाह करे ? हैं दोनों ज़ख़म ही — पर —

वैसे चंदू उस बाबा से, और मुझे अनीतिमाम करार देने वाले अिन सुशिक्षितों से कहीं सौ गुना श्रेष्ठ है । क्यों कि उस का कलेजा अुन की तरह न तो काला है न कमज़ोर ही । कल जब मैं उसे अिस मास का वेतन सात रुपये देने लगा तो कहता क्या है, 'साहब, मेरे पास पैसे हैं ।' भला कहाँ से आये उस के पास पैसे ? किंतु उस के अिन पाँच शब्दों से मेरे सामने अेक बार स्वर्ग ही अुतर आया ।

चंदू की भाँति ही अुन छात्रों के प्रेम से भी मेरा हृदय भर आया । दिन में आने के संकोच के कारण रात को आ आ कर मिल जाने वाले ये लड़के और आपस में चंदा करके लाये हुअे अुन के वे पचास रुपये मेरे लिये 'नोबेल प्राअिज़' से भी बढ़कर हैं । क्यों कि अुनमें से प्रत्येक रुपये के पीछे अुन का निःस्वार्थी प्रेम है, थोड़ा ही क्यों न हो त्याग भी है । कोअी सिनेमा न गया होगा, तो किसी ने कोअी चाही चीज़ न खायी होगी, किसी ने कोअी मन की चीज़ न खरीदी होगी । और वह ग़रीब विद्यार्थी । उसने तो दो दिन अुपवास करके आठ आने दिये थे । अतः वे रुपये मुझे वापिस करने तो अशक्य हो गये, किंतु मैं अुन्हें खर्च भी न करूँगा । क्यों कि वे महज़ रुपये नहीं, अुनके मूर्तिमान हृदय हैं । मुझे सदैव स्फ़ूर्तिदात्री मूर्ति हैं ।

मिलने आने वाला प्रत्येक विद्यार्थी मुझ से हस्ताक्षर और संदेश ले गया । परंतु उन को मैं ' मानव का धर्म मानवता है ' इस अेक वाक्य के सिवा कुछ न लिख सका ।

बम्बयी जैसे बड़े नगर में जाकर मैं आसानी से पेट भर सकूँगा । पर मैं चला गया तो उसका अलटा ही अर्थ लगाया जायगा कि मैं इस लड़ाई से भाग खड़ा हुआ । और यों मैंने अपना अपराध मुँह से नहीं तो, कार्य से कबूल कर लिया, ऐसा समझा जायगा । अतः चाहे कितनी भी दुर्दशा क्यों न हो, मैं यहीं रहकर इस दौंगी समाज से लड़कर उसपर विजय प्राप्त करूँगा । जिस माँ को आज इस समाज ने कुलटा करार दिया है, उसे सती साबित करके मारूँगा । मेरा यह निश्चय सुनकर माँ का मन न जाने कैसा हो जाता है ! वह कहती है, मनुष्य को विष की परीक्षा से कोअी लाभ नहीं होता; पर मैं मानता हूँ कि यदि इस विष का अमृत बनाने में मौत भी आ जाय तो परवाह नहीं । परंतु —

यह काम कुछ सरल नहीं । मनुष्य चाहे बंदर का वंशज हो न हो ! किंतु उस का कौआ और गिद्ध से कोअी न कोअी नजदीकी रिश्ता जरूर है । उस दिन उस पेन्शनर सब्ज-जज ने मुझे अपनी लड़की के ट्यूशन के लिये घर बुलाया था, लेकिन वहाँ जाने पर कहता क्या है ? ' देखिये महाशय ! यों तो हमें आपके प्रति आदर है, पर मेरी लड़की आपसे पढ़ेगी तो आप दोनों अेकांत में अेक साथ बैठेंगे ही । और आपके बारे में आजकल गाँव में अफवाह गर्म है कि आपका अपनी सौतेली माँ से — अब आप ही बताअिये कि मैं क्या करूँ ? '

मेरे मन में तो आया कि यदि इस के घर न आया होता तो अेक ही चॉटे में इस के सारे नकली दाँत झाड़ देता ।

और वैसा ही वह हेड-मास्टर भी निकला । प्रोफेसरी करने वाला आदमी मेरे हाथ के नीचे काम करेगा ! प्रथम तो उसे इस बात का अभिमान हुआ । पर जख्मों पर नमक छिड़क कर वह तुरंत ही बोला कि, ' आप मास्टर तो सानंद हो सकते हैं, परंतु हमें स्कूल के आसपास अनाथ लड़कों का आश्रम नहीं खोलना ! '

किसी दिन यदि घर से न निकलता तो माँ समझती कि मैंने नौकरी की आशा छोड़ दी। अिससे अुस का जी दुखता। अतः अुस के मन के संतोष के लिये ही मैं प्रति दिन दो पहर को घर से बाहर तो निकल ही जाता। समाज के सभ्य लोगों के दरवाजे तो मुझे देखते ही बंद हो जाते थे। अिसका तो मुझे काफ़ी कड़ु अनुभव हो चुका था, अतः मैं अुस पहाड़ी पर घंटों ही किसी वृक्ष की छाया में बैठ कर प्रति दिन वक्त बिताता था।

आतप की ओर देखते देखते मेरे भावी जीवन के अनेक चित्र मेरी आँखों के सामने नाचने लगते थे। गाँव के किसानों में हिलमिल जानेवाला अशोक, मिल के मजदूरों का मित्र अशोक, क्लर्क से लेकर कुली तक सभी से ‘आदमी अिस दुनिया में नाक रगड़ने के लिये नहीं, लड़ने के लिये आया है’ यह कह कर धीरज बँधाता अशोक — कितने नये नये अशोक मुझे नज़र आने लगे।

प्रत्येक नये अशोक के पीछे पुरुषों की तरह स्त्रियों की भी काफ़ी भीड़ नज़र आती। और हरेक के हाथ पैरों के बंधन काट कर वह कहता नज़र आता, ‘माँ, यह सारा संसार तेरा है, तू स्वतंत्र है।’

अुस दिन अुस टेकड़ी पर मैं यह दिवा स्वप्न देखता बैठा था कि आकाश में अेकदम घोर अँधेरा छा गया। पर मेरे मन में पूर्ण प्रकाश था तब मैंने अपनी आँखों के सामने तरंगित चित्रों में से अेक लड़की के पैरों की बेड़ी काटकर कहा, ‘माँ!—’

कि यकायक मेरे माथे पर टप् टप् आँसू पड़े। सर अुठा कर देखा तो — पुष्पा थी वह!

कल्पनाचित्र की जगह अब सच्चे चित्रों ने ले ली थी। क्या, मैं पुष्पा को सचमुच बिल्कुल ही भूल गया था? लेकिन प्रीति तो कभी भुलकड़ नहीं होती! घर जब कुछ लिखने के लिये बैठता तो बीच ही में कभी कभी पास में पड़े कागज़ों पर व्यर्थ ही ‘पुष्पा’ ‘पुष्पा’ लिख मारने की जिस के हाथों को टेव पड़ गयी हो अुस का मन भला क्या —

मगर अिस बीच वह मेरे पास नहीं आयी, अतः मैं भी उस के यहाँ नहीं गया था । अहंकार की दृष्टि से चाहे यह ठीक हो, लेकिन अहंकार को जीत ले, वही तो सच्चा प्रेम है न ?

पुष्पा से क्षमा माँगने के लिये न सही, उस के प्रेम की भीख माँगने के लिये भी न सही, मगर उस ने जो भूल की, वह फिर न करे अिस के लिये भी क्या अशोक को उस से नहीं मिलना चाहिये था ?

मेरे सामने घोर अँधेरा था, संध्या से पहले ही अँधेरे का आभास होता था, और मानों बीच बीच में चमकने वाली याद की बिजली ने तो उसे और भी भयानक बना दिया था ।

मैं पुष्पा से आखिरी भेंट के लिये टेकड़ी से उतरने लगा ।

पुष्पा और मैं अनेक बार साथ साथ दौड़ते हुअे यहाँसे नीचे उतरे थे ।

वे याद की तस्वीरें ! वे स्मृतिचिह्न —



१५

पुष्पा

मोहपाशों गुंतसी कां मम जीवा ?
विसरुनि जा ना,
विसरुनि जा !
मोही काय माया ?
मृगजल प्याया
शिणविसि काया,
वणवण वाया !
विसरुनि जा !

ममतामें मगन क्यों मेरे मन !
जो बिसर सके तो —
बिसरा दे ।
मोहे क्यों माया ?
मृगजल माया,
कांतर काया,
मन विरमाया !
बिसर सके तो—
बिसरा दे ।

आजकल अिसके सिवा फोनोग्राफ़ पर दूसरी चूड़ी चढाने का मन ही नहीं होता । उस दिन के पहले

‘डोले हे जुलिम गडे’*

मुझे बहुत मीठा लगता था ! पर अब ? —

‘विसरुनि जा ना, विसरुनि जा’

ये कवि लोग वैसे चाहे बड़े बुद्धिमान् हो, पर अनि के हृदय तो नहीं मालूम होता । कहते हैं ‘विसरुनि जा ना, विसरुनि जा’ । अरे बाबा, ‘अपने’ को विसर जाना अितना आसान है क्या ? दिन बीते, सप्ताह बीते, आज महीना भी हो गया । पर अशोक को मैं पल भर भी नहीं भूल पाती । अलटे भुलाने की कोशिश करने पर अनि की और अधिक ही याद आती है ।

और वह मेरी क्लास की शोभना अब मुझे कितना चिढ़ाती है । वह भी अशोक को प्रेम करती थी, पर मैं बीच में आ गयी । अतः वह मन ही मन मुझ से जलती थी, और अब उस के मन की-सी ही हो गयी । कितने छोटे मन की है शोभना !

लेकिन मेरा मन भी कौन-सा उदार है ? यदि वह उदार होता तो उस रात का वह प्रसंग देखने पर भी, अशोक अपने हैं यह कभी न भूलता । बच्चे को सीतला निकलने पर भी क्या माँ उस से दूर रहती है ? तो अशोक का अिस प्रकार अधःपात होने पर मुझे आगे आ कर अन्हें सँभालना नहीं चाहिये था क्या ? ‘माँ’ अपन्यास की माँ अपने बच्चों के लिये बड़े बड़े काम करती है, तो क्या, मैं अितना भी न कर पाती ?

अशोक का अधःपात ! तारा का वह पत्र और उस रात को अनि के घर का वह विचित्र दृश्य । मेरा मन भड़का हुआ पाकर अिस चिंतोपंत ने उस बात का भरपूर लाभ अुठाया । अशोक को आदमियों के बीच से अुठाने में ही कारण बनी । अपने पूजने की मूर्ति के मैंने स्वयं ही क्रोध में आकर टुकड़े टुकड़े कर डाले ।

* ‘ये जुल्मी नैना’ — अिस अर्थ का अेक मराठी रिकॉर्ड ।

जगत् में लंपट पुरुष बहुत-से होंगे । किंतु मेरे अशोक भी यदि वैसे ही होते तो पिछले साल भर में क्या कभी भी वे मेरे अंकांत का लाभ न लेते ? वे अधिक छूट से क्यों नहीं बताव करते, अिसके लिये पुष्पा अन पर मन ही मन नाराज़ भी थी । और उसी पुष्पा ने उन्हें क्रोध में अंधी होकर लंपट और अनीतिमान करार दिया ! हाय दैव —

अब गाँव में उन्हें कोअी ट्यूशन तक नहीं देता । हर आदमी उन्हें बहुत खतरनाक मानता है । यह बतलाते हुअे चितोपंत को कैसी गुदगुदी होती है, पर मैं घुटमरने जैसी हो जाती हूँ ! अपनी मौसी की नैतिकता का फरफराता झंडा क्या मुझे नज़र नहीं आता ? किंतु उस का अन्न खाकर उस के घर की छाया में ही अितने दिन मैंने कैसे व्यतीत किये । और चार आदमियों के बीच में मौसी की आँखों देखी लीलाओं में मैं कह सकूंगी क्या ? लेकिन अशोक को फाँसी पर चढ़ाने को तत्पर लोगों की मैंने मदद की । वैसे वे मुझे मौसी से भी कितने नज़दीक मालूम होते थे । पर —

अशोक पर मेरा अकेली का ही हक़ है अिस खयाल से मैं पागल हो गयी थी । अेक बात मैं शायद बिल्कुल भूल गयी कि प्रत्येक व्यक्ति पर जगत् का कुछ न कुछ हक़ अवश्य है । वे मुझसे प्रेम करते, अिसी लिये क्या तारा जैसी किसी अनाथ लड़की पर दया भी न करते ? या अपनी दुःखी माँ से भी ममता का व्यवहार न करते ? अिस प्रकार की जिद भी मेरा अेक पागलपन ही था । कल तो वे सारे संसार से प्रेम करेंगे ! तो प्रणयिनी को अपने वल्लभ के अिस पराक्रम पर गर्व करना चाहिये । न कि ओले मन से द्वेष —

तो क्या, तारा और सौतेली माँ के प्रति अनका प्रेम सर्वथा पवित्र है ?

अशोक ने जिस दिन राजीनामा दिया, उसी दिन मैं आश्रम में तारा के पास गयी थी । तब कितनी सरलता से उसने सारी बातें बता दी थी कि — ‘ मैं तो उस देवता पर सिर्फ़ पुष्प चढ़ाती हूँ, उस की देवी तो कोअी और ही है । ’ उसने केवल अपने मनस्तोष के लिखे हुअे सारे पत्र भी मेरे सामने ही जला दिये थे । क्यों कि उनमें से अेक भी पत्र उसने कभी अशोक को भेजा न था ।

अितनी सफ़ाभी हो जानेपर भी सौतेली माँ का संशय लेकर मैं अन से दूर ही रही। पर अन का अस पर प्रेम पवित्र होगा क्या ? न भी हो तो क्या हुआ ? मेरे अशोक चंद्र नहीं हैं, वे तो सूर्य हैं। यह बात मैं ही तो कहती थी न ?

सूर्य ! मैंने खिड़की से बाहर देखा तो सूर्य कहीं नज़र नहीं आ रहा था। घोर अँधेरा छा गया था। देखते देखते रिमझिम पानी बरसने लगा, बादल गरजने लगे, बिजली कड़कने लगी। मूसलधार बरसात गिरने लगी। अशोक को कभी अवश्य मिलना चाहिये, इसका मैं विचार ही कर रही थी कि बाहर की बरसात को देखकर मेरे मन में 'मृच्छकटिक' नाटक की याद आ गयी। उसमें इसी प्रकार बरसात में वसंतसेना चारुदत्त से मिलने जाती है। तो मैं भी —

किंतु यह क्या ? रास्ते पर मेरी नज़र पड़ी तो अशोक आ रहे थे, और वह भी हमारे ही बँगले की ओर रुख करके ! सर पर छाता न था, कपड़े पानी से तरबतर हो गये थे।

पलभर तो मुझे यही न सूझ पड़ा कि क्या करूँ ! अशोक भीगते हुआ आ रहे थे, अतः मैं छाता लेकर दौड़ती हुअी फाटक पर आयी। मेरी छाती धड़कने लगी। बाहर दो व्यक्ति बात कर रहे थे। पानी बंद हो गया था, अतः बातचीत साफ़साफ़ सुनायी दे रही थी। मैंने मात्र एक बार अचक कर देखा और मैं ओट में खड़ी हो गयी; क्यों कि वे अपनी माँ से बातें कर रहे थे। वे भी पानी से तरबतर हो गयी थीं।

अशोक ने उनसे पूछा, 'मेरी यहाँ आने की बात तुझे किसने कही ?'

'टेबिल पर के कागज़ों ने। क्यों कि सारे कागज़ 'पुष्पा' इस एक नाम से ही भरे पड़े थे।'

तब आकाश की ओर देखते हुआ वे बोले, 'माँ ! मनुष्य से तो ये बरसात अच्छी, ये अँधेरा भी करती है तो कितनी थोड़ी-सी देर ! और आदमी जो संशय से अंधा बन जाता है तो सदैव के लिये। क्यों, माँ ! मेरे जीवन का आकाश भी कभी यों ही साफ़ हो जायगा क्या ?' इस वक्त मेरे लिये — पुष्पा के लिये ही — अशोक तड़प रहे थे, जिस क्षण की मैं साल भर से बाट देख रही थी —

अस पर माँ बोली कि 'तेरे जीवन के आकाश में केवल अजाला ही न होगा किंतु उस में सुंदर चाँदनी भी चमकेगी !'

एक ही वाक्य — किंतु कितना मीठा ! उसकी चाँदनी ने मेरे मन का रहा-सहा अँधेरा भी पलभर में खो दिया ।

तब माँ उन से बोली कि 'चल बाबा, घर चल, नहीं तो अस ठंड से कुछ और हो गया तो —'

अस पर वे बोले, 'माँ ! पुष्पा से मुझे एक बार मिलना है, क्यों कि वो बड़ी अल्हड़ है, मुझे उस से सिर्फ़ एक ही बात कहनी है कि सच्चा प्रेम अर्पिर्धालु हो सकता है, परंतु वह डरपोक नहीं होता । अपने अधिकार के आदमी का अगर कोअी अपहरण करने लगे तो उसे यों रोतेधोते कभी नहीं बैठना चाहिये । उसे मुझ पर शक था न ? उसे मुझ से तड़ाकफड़ाक जवाब तलब करना चाहिये था ? तो मैं उसका समाधान कर देता । आवश्यक समझता तो उस से क्षमा भी माँग लेता ।'

बरसात पुनः बरसने लगी । दो बरसात एक साथ शुरू हुई — एक तो बादली और दूसरी मेरी बावली आँखों की ! अतः अशोक की क्षमा माँगने के लिये मैं चट से आगे बढ़ी ।

मुझे देखते ही वे बोले, 'माँ, अब घर चलो, एक आदमी को जो कुछ कहना था, वह उस ने सुन लिया !'

जल्दी जल्दी अशोक चल पड़े, किंतु मैंने तेज़ी से सामने हो कर कहा कि 'फिरसे पानी पड़ रहा है, यह छाता —'

और मैंने छाता सामने कर दिया, वह अन्हों ने लिया तो नहीं, पर माँ उसे ले कर हँसती हुई बोली, 'आयी हूँ, बेटा !' माँ के उस सरल वाक्य का अर्थ कितना भयंकर था !



अशोक और माँ दोनों की क्षमा माँगने के लिये मैं दूसरे दिन सबेरे ही उन के घर जाने को तैयार थी, कि डाकिया आया । मैंने सोचा कि शायद कौकण से माँ का पत्र आया होगा । वैसे पत्र माँ का ही था, किंतु

मेरी जन्मदात्री का नहीं, अशोक की और मेरी नयी माँ का । पत्र बिल्कुल छोटा-सा था । —

‘ प्रिय पुष्पा,

अशोक सुखी हो सके, इसी कारण उस के पास से, तेरे पास से और अपनी इस मनभात्री दुनिया से मैं बहुत दूर-दूर जा रही हूँ । अधिर तुम सब को सुखी रखे ।

तेरी सास —
सुशीला ’

अस पत्र को पा कर मैं दौड़ती हुअी अशोक के घर पहुँची । वे भी तुरंत ही अपने पिताजी के घर, मठ में, आश्रम में, धर्मशाला में, सभी जगह माँ को खोज आये थे । कहीं भी उस का पता न लगा । माँ ने अन्हें भी अक पत्र लिखा था ।

‘ चि० अशोक,

अनेक शुभाशिष —

हरेक को सुख देने के लिये मैंने कुछ न कुछ किया, पर तुझे मैंने केवल दुख ही दिया, अतः मुझे माफ करना ।

स्त्रियाँ देवियाँ हो सकती हैं, किंतु वे दुर्बल देवियाँ हैं । उन में देहरे से बाहर निकलने का साहस ही नहीं । यह दुर्बलता झटक कर मैं घर से बाहर निकल रही हूँ, मेरी खोज न करना । पुष्पा पर नाराज़ न होना ! वह भी तो अक दुर्बल देवी ही है । प्रभाकर और प्रेमा तेरे भाअी-बहन ही हैं । और अक बात, अपने पिताजी पर भी क्रोध न करना । उन का कोअी और नहीं । उन से ग़लती हुअी होगी । किंतु उन का मन नवनीत से भी कोमल है । उन की सेवा मेरे नसीब में न थी । उन को भी सँभालना ।

तेरी —
माँ ’

पत्र पढ़ते ही मेरा रोना न रुका । तब मेरे आँसू पोंछते हुअे अशोक बोले, ' अब देवी को यों दुर्बल न बनना चाहिये !' पर तुरन्त उन का स्वर कँपित हो गया । ' माँ तेरे लिये अक सौगात रख गयी है । ' मैं अतुस्कता से देखने लगी तो अन्हों ने टेबिल की ओर अशारा किया । अस पर सोने के कँगना, कानों के अेरन, मोहनमाला आदि सारे गहने रखे हुअे थे । अन्के पास रखी हुअी चिट्ठी अुठा कर अन्हों ने मेरे हाथ में दे दी । —

अस में सिर्फ अितना ही लिखा था — ' ये मेरी लाड़ली बहू के गहने हैं, अस का समुराल का नाम भी ' पुष्पा ' ही रखना चाहिये । '



१६

दा सो पं त

अस मसूरकर के भविष्य में यह कहीं नहीं लिखा था । असमें तो अस ने छाती ठोक कर लिखा था कि नया गृहस्थी भी खूब सुख भरी होगी। पर, यहाँ तो चार महीने में ही छाती पीटने की घड़ी आ सवार हुअी हमारे अॢपर !

भला बिचारे ग्रह भी मनुष्य की मूर्खता के आगे क्या करें ? अपना सुख यदि कोअी दूसरे के दुख की नींव पर खड़ा करे तो वह कब ढगमगा जायेगी असका कोअी नेम नहीं ! भला पचासी अुलटने वाले आदमी को पचीस साल की लड़की से विवाह करते हुअे पल भर तो यह सोचना चाहिये । मैं जब बाअीस तेअीस साल का था, तब मेरे गले में अगर कोअी पैतालीस साल की औरत बाँधने लगता तो मैं दरवाजे पर ही अुसे ' मेरी माँ ' कह कर नमस्कार कर देता, और वहाँसे अितनी ज़ोर से दू मंतर होता कि लोग मुझे सवाअी रामदास ही बताते ! मेरी जो गलती हुअी सो यही, अेक को कड़वा लगने वाला नमक कुछ दूसरे को शक्कर-सा मीठा नहीं लगता । सुशीला जैसी समझदार लड़की मिली, अस लिये तो अपना अितना भी निभाव हो गया, वरना कोअी ताड़का पल्ले पड़ी होती तो दासोपंत को सन्यास लेने की शुभ घड़ी ही आ गयी होती !

पर अितनी सुंदर स्त्री मिली भी तो हमने कौनसे तारे तोड़ लिये !
 उस की मर्जी के खिलाफ़ उसे मठ में भेजा, यह भी बड़ी भारी भूल
 हुआ । उस ने यदि मुझ से किसी सन्यासिनी की सेवा करने को कहा होता
 तो मैं भी क्या कर सकता ! तो उस पर मैंने अितना दबाव क्यों डाला ?
 वह मेरी औरत थी अिसी लिये न ! औरत और मर्द अेक ही गृहस्थी की
 दो आँखें ! तो मैंने भेदभाव क्यों किया ? यह न सोचा कि स्त्री को भी
 पुरुष की भाँति ही मन होता है । अिसे यदि पुरुष भूल जाता है तो —

क्या होता है, यह साफ़ साफ़ सामने है । घर में शीघ्र ही नन्हा-मुन्हा
 खेलने लगे, अिसके लिये जो खटपट की वह अुल्टी बबाले जान बन गयी ।
 बच्चा तो अलग रहा, गाँठ की बीबी भी बेपता हो गयी ।

सुशीलाने आत्महत्या तो न की होगी ! सभी आत्महत्याओं का पुलीस
 को कब पता चलता है ? अुसने अगर जान दे दी होगी — तो भगवान् के
 आगे मैंने ही उस की जान ली यह माना जायगा । और मैं भी कितना मूर्ख
 हूँ । अिस प्रकार बाबा की कृपा से अगर संतान होती हो तो विवाह के
 बंधन में कोअी पड़ेगा ही क्यों ? कहा है न, कि लोभ अंधा होता है ।
 मुझे भी तो संतान का लोभ लगा था, और —

अुस दिन अुन अखबारों ने ‘बूढ़े पतियों को चेतावनी’ के नाम से
 चाहे जो छाप, मेरा तो सर ही फिर गया था अुसे पढ़ कर । अतः
 अशोक के घर जाकर मैं जो मुँह में आया, बोल आया । अुस
 बात की अब जब जब याद आती है तो शरम से गड़-सा जाता हूँ । और
 घर आकर मैंने अुस बिचारे प्रभाकर से कितना बुरा बर्ताव किया था !
 जब अुसने पूछा कि क्या हुआ है ! तो मैंने अेकदम अपना तोपखाना
 शुरू कर दिया । ‘महायुद्ध छिड़ गया — नहीं तो गाय को गदहा पैदा
 हुआ — चल, रास्ता ले यहाँ से, पुनः मुँह न दिखाना । विवाह करके मैंने
 जो मुफ्त भोजनालय खोला था अुसमें नुकसान रहा, अतः आज से अुसे बंद
 कर दिया । अब आज से दासोपंत की नाटक कंपनी अेक भी खेल धर्मार्थ
 न करेगी ।’

छिः छिः ! यह क्या अेक लड़के से बातें करने का ढंग था ! गरीब
 बिचारा प्रभाकर ! सुशीला का भाअी ही तो ठहरा ! बिना मीन मेख

किये चुपचाप चला गया। बाद में मैंने सोचा कि मुझे इस प्रकार नहीं बोलना चाहिये था। हमारे जैसे लोगों की यहाँ तो भूल होती है। पहले तो आग लगने तक सोते हैं, और फिर दमकल के लिये दौड़धूप करते हैं।

मुशीला ने घर छोड़ते वक्त अशोक को लिखा वह पत्र — उसे पढ़ कर वह चली गयी, इस दुख से मुझे रोना आता है। उस का अब भी मुझ पर कितना प्रेम है, यह सोच कर मेरी आँखों से आनंद के आँसू बह चले थे — मेरी क्या हालत हुई, इसे मैं भी नहीं समझ सका।

रात को नींद तक नहीं आती। आँखें लग भी जाय तो सपने में भी मुशीला दिखायी देती है। कभी वह नदी में कूदती है, कभी ज़हर खाती है, कभी गले में फाँसी लगाती है, कभी शरीर पर मिट्टी का तेल छिड़क कर आग लगाती है। अक-से अनेक — कितनी डरावनी बातें दीख पड़ती हैं ! अशोक, पुष्पा, प्रभाकर लगातार उसे खोज रहे हैं, पर उसका कहीं पता नहीं लगता। अगर वह बंबयी गयी होती तो अपनी मौसी के पास रहती, किंतु वहाँ से भी नहीं का उत्तर आया। अिन बच्चों का धीरज न छूटे अतः मैं दिन में तो न जाने कैसे कैसे आँखों में छलाछल भरे पानी को रोके रहता हूँ। किंतु रात को सोने के समय जब प्रेमा 'गीत सुनाभिये न ! जीजी के जैसा गीत सुनाभिये न ?' कहकर ज़िद करती है। अरे बाबा ! यदि मेरा गला गीत गाने लायक मीठा होता तो मैं औरान की तेल कंपनी में क्लर्क बनने के बजाय बालगंधर्व^१ ही न बन जाता ? और इस लड़की को जो पसंद हैं, वे गाने मुझे आते ही कहाँ हैं ? अपनी पूँजी तो सिर्फ दो चार भजनों की है। वे हैं —

‘ भज भज भवजलधि मांजि मनुजा शिवाला ! ’^२

या ‘ दत्त गुरु — दत्त गुरु ’ अथवा

१ मराठी रंगभूमि के पिछले पीढ़ी के मशहूर गायक अभिनेता नारायणराव राजहंस — ‘ बालगंधर्व ’।

२ ‘ भज भज भवजलधि माँझ मनुज तू कपाला । ’

‘सुखकर्ता दुःखहर्ता वार्ता विघ्ना ची’*

अिनमें से कुछ गाँऊँ भी तो यह छोकरी तुरंत कानों में अँगलियाँ लगा लेगी ।

यों ही जीजी की याद करके रोते रोते प्रेमा रोज़ सो जाती है । उस की आँखें झपकने तक मैं उसे बहलाता रहता हूँ — ‘जीजी जरूर मिल जायगी हँ !’ पर उसके सोते ही मेरी आँखों से आँसू टपकने लगते हैं । किसी भूत की भाँति मैं सारे घर में घूमता हूँ, प्रत्येक जगह, प्रत्येक वस्तु सुशीला की अधिक याद दिलाती है । यहाँ इस पर्दे के पीछे मैंने ‘रास्ता बंद है’ कहकर सुशीला से मज़ाक किया था, वहाँ —

सुशीला पुनः लौट आयेगी क्या ?

मध्यरात्रि के अँधेरे में अपने इस प्रश्न का मैं जब कि उत्तर खोजता हूँ, तभी प्रेमा सपने में ‘जीजी ! जीजी !!’ कहती उसे पुकारती रहती है ।

● ● ●

* ‘दुःखहर्ता सुखकर्ता विघ्न के विनायक ।’ (श्रीगणेशजी की मराठी आरती ।)

१७

सु शी ला

पुष्पा का छाता मैंने ले लिया, किंतु बरसात तुरंत ही थम जाने से वह कुछ काम न आया। घर आने तक मैं और अशोक आपस में कुछ बोले भी नहीं। किंतु बरसात की बूंदों से धुल कर बाहर की सृष्टि जैसी प्रसन्न दीखती थी, अशोक के मुख पर भी वैसा ही आनंद नाच रहा था।

पुष्पा को देख कर उसे कितना आनंद हुआ, यह मैं समझ गयी। तब काफी दिनों से मेरे मन में घुलनेवाले असि खयाल ने जोर पकड़ा कि मैं जो घर छोड़ कर चली जाऊँ ? तो पुष्पा असि घर में दौड़ी आयेगी। अशोक ने मेरे लिये अपने जीवन में अँगारे पाले हैं। तो अनि अँगारों को मैं फूल नहीं बना सकती क्या ? प्रेमा उन के पास मजे में रहती है, तथा प्रभाकर को अशोक अपना छोटा भाई ही समझता है। ये सब होने पर अब पुष्पा और अशोक के बीच में आने का मेरे लिये कोई अर्थ नहीं था। अतः अशोक के वे शब्द पुनः मेरे कानों में गूँजने लगे — ‘तू प्रेमा की बहन नहीं, अशोक की माँ नहीं, पिताजी की पत्नी नहीं; तू मनुष्य है, केवल मनुष्य।’

तब मैंने अपने मन की सारी विकलता अशोक के अिन शब्दों की धुन में डूबा दी । और अशोक तथा पुष्पा के नाम दो पत्र लिखे, अपने सारे गहने अुतार कर मेज़ पर रखे । तथा आनंद में सोये हुअे अशोक को खूब जी भर देख कर अुसी रात को मैं घर से निकल पड़ी ।

बाहर घोर अँधेरा था, अतः मेरे पैर तो ठिठके, किंतु मन पीछे न मुड़ा । थोड़ी दूर ही गयी थी कि गस्तवाला चिल्लाता जा रहा था, मुझे चोर समझ कर यदि वह —

अतः मैं अेक फूटे घर की ओट में हो गयी । गस्तवाला आगे निकल गया तो मैं पुनः आगे चल पड़ी । रेल से जाँझूगी तो शायद पता लग जायगा, अतः अेक दो दिन पैदल चलने का ही मैंने निश्चय किया । बीच ही में अेकाध कुत्ता भूँकता तो कुछ डर लगता । पर तुरंत ही मैं फिर चलने लगती ।

मैं लगभग दो तीन घंटे चली थी कि पैर दुखने लगे, वैसे सड़क काफ़ी चौड़ी थी, पर मैं किस ओर जा रही हूँ, अिसका मुझे कुछ भी पता न था । तब मैं सड़क किनारे के अेक पत्थर पर थोड़ी देर के लिये बैठ कर सुस्ताने लगी । अिस बीच मन में अेक विचार आया कि पुनः घर क्यों न लौट चले ? परंतु तुरन्त ही अशोक के शब्द याद आये कि ' मनुष्य लड़ने के लिये ही जन्म लेता है । ' तब मैंने भी लड़ने का — जान जाने तक लड़ने का ही मन में प्रण किया । अब मुझे आसपास के अँधेरे का कोअी डर न रहा । मैं जंगल में थी, लेकिन अुस बाबा के मठ से अधिक सुरक्षित थी । अब अपनी पोटली में से अेक पुराना कपड़ा निकाल कर मैं रास्ते के अेक ओर लेट रही, अभी मेरी आँखें झपकी न झपकी अिसी बीच बेलों के गले की घंटियों का मीठा स्वर सुनाभी दिया । बड़ी सड़क से लगे हुअे किसी गाँव के छोटे रास्ते पर से अेक बैलगाड़ी आ रही थी । गाड़ी जैसे जैसे करीब आती गयी, वैसे वैसे अुसके नीचे लटकती हुअी लालटेन भी टिमटिमाती नज़र पड़ी । गाड़ीवाला अपने भारी स्वर में न जाने क्या गुनगुना रहा था । किंतु मुझे वह बहुत सुरीला लगा । अतः मैं अुठ कर खड़ी हो गयी ।

तब उस ने रास्ते पर कोअी खड़ा है, यह देख कर गाड़ी ठहराअी । उस की 'कौन है ?' आवाज़ सड़क के पुलिस वाले की न थी, किंतु किसी घर के मनुष्य की-सी थी ।

मैंने कहा, 'अक गरीब औरत' ।

'कहाँ जा रही हो ?'

'बम्बअी !'

'बम्बअी ?' वह हँसा । 'तब तो रेलसे जाना था न —'

'टिकट को पैसे नहीं थे, दादा !' प्रसंग मनुष्य को सब पाठ पढ़ा देता है, मैं अितनी सरलता से यह सब कह सकूंगी असका मुझे स्वयम् विश्वास न था ।

'आ, माअी ! गाड़ी में बैठ जा !' वह बोला ।

मैं गाड़ी में बैठ गयी तो गाड़ी चलने लगी । वह पचीस तीस मील दूर लगने वाले अक बड़े ग्रामीण बाज़ार को जा रही थी । अक अनाज के बोरे का सहारा ले कर मैं झोके लेने लगी । गाड़ीवान गाता जा रहा था, बीच बीच में बीड़ी भी पी लेता था । बीड़ी खत्म हो जाने पर उस ने बताया कि जब वह गाड़ी पर सवार हो कर निकला तो उस वक्त उस के बच्चों ने कैसा शोर मचाया था । फिर उस ने मुझ से पूछा कि 'माअी ! तेरे कितने बच्चे हैं ?'

'अक !'

'कितना बड़ा है ?'

'बहुत बड़ा नहीं !'

'तो उसे छोड़ कर तू कैसे चली आयी ?'

'पेट भी तो पीछे लगा है न, बाबा !'

उस ने गर्दन हिलाअी । 'बम्बअी में क्या, मिल में काम करेगी ?'

'हाँ !'

'मेरी औरत की अक बहन भी बम्बअी में किसी मिल में काम करती है, पर उस का पता —' उस ने बहुत देर तक सर खुज़ाया, पर उसे पते का पता कतअी न चल पाया !

बैलगाड़ी की उस दो दिन की यात्रा ने मुझे कितनी ही बातें सिखायी । पौ फटे पूर्व की ओर अरुण फूटता तब का दृश्य कितना सुंदर होता था । घर तो मैं इस वक्त उठ भी पड़ती तो भी चाय की गड़बड़ीमें रहती थी । परंतु खुले जंगल में पंछियों की कलकल, गाँव के बाहर चरने जाने वाले जानवर, खेतों में काम करने वाले किसान, धूल में गुल्ली-डंडा खेलने वाले नंगे घड़ंगे बच्च, सभी बातें मेरे लिये नयी थीं । मैंने सोचा, हम मध्यम वर्ग के लोग एक कृत्रिम संसार में रहते हैं । सच्चा संसार यह है ।

गाड़ीवान के साथ ही मैंने दोपहर को एक पेड़ की छाया में मोटी रोटी खायी, उसकी घर से साथ बाँधकर लायी हुआ वह रूखी रोटी भी कुछ कम मीठी न थी ! तब मुझे हम लोगों के घर का खाने का प्रतिदिन का खटराग याद आया । शाकभाजी क्या की जाय ? किस किस चीज़ को बायाँ हाथ न लगे ? न जाने क्या क्या झंझट ! रसोबीघर के जँजाल से बिचारी स्त्री कभी सर भी नहीं उठा पाती ।

हम कल बाज़ार के दिन ही गाँव में आ गये । गाड़ीवान को अब मंडी में जाना था । अतः मैं गाड़ी से नीचे उतरी । उसके अपकार से मेरी आँखें भर आयीं । मेरे उतरने के बाद वह बोला, 'मिल मैं संभलकर काम करना; नये आदमी पट्टे वट्टे की झपट में आ जाते हैं ।'

गाड़ी जब तक आँखों से ओझल नहीं हो गयी, तब तक मैं उसकी ओर देखती ही रही । इस गँवार गाड़ीवान की जगह यदि कोई पढ़ा लिखा मनुष्य होता तो उसने अपनी गाड़ी में मुझे कभी न बिठाया होता । अलटी न पूछने की बातें और मुझ से पूछी होती !

मैं सारे दिन गाँव में फिरती रही । बाज़ार केवल इसी गाँव में भरता हो, ऐसी कोई बात न थी । पर मैं क्या करती ? इस गाँव में मेरा कोई घर न था इस लिये मैं कहीं बैठकर भी क्या करती ? अतः सारे दिन घूमती फिरती ही रही ।

रास्ते के एक तरफ़ एक बूढ़े चमार ने अपनी फटी टूटी दूकान लगा रखी थी, मैं उसी की ओर देखता काफ़ी देर तक खड़ी रही । उस से चप्पल का कोई अँगूठा बनवाता, कोई टूटी पट्टी ठीक कराता इसमें पैसे दो पैसे

ही उसके हाथ पड़ते थे। दादी की अच्छा थी कि प्रभाकर को तहसीलदार या मुन्सिफ बनाया जाय— परंतु आज मेरी अच्छा—

मन में आया— क्या, यह चमार भी अपने लड़के को तहसीलदार बनाने की न सोचता होगा ?

मंडी में बेझर के अंक ढेर के पास अंक लड़की अपने छोटे भाभी को लेकर खिला रही थी, कितनी औरतें कंडा बेच रही थीं, कितनी माथे पर टोकरी लिये फिर रही थीं। उन टोकरियों में अनेक बोंतलें थीं। उनमें से अंक में थोड़ा नारियल का तेल होगा, दूसरी में शायद मिट्टी का तेल भरा होगा। वे नटनी-सी नाच रही थीं। उनके हँसते हुआ चेहरों को देखकर मुझे अपने आप पर लजा आ गयी।

शाम को मैं गाँव के मंदिर की ओर गयी तो रास्ते में अंक कुली बोरियों से लदी हाथगाड़ी खींचे जा रहा था। बिचारे को इस महा मेहनत के बदले दो चार आने भी मिलते होंगे या नहीं, कौन जाने ! मैं मंदिर में घुसी तो वहाँ अंक कथाकार कथा कह रहे थे। उन के सामने चावलों का खासा ढेर था, थाली में पैसे भी काफी पड़े थे। झोके खाती बातें बनाती तथा घुसपुस करती, बहुत-सी स्त्रियाँ और थोड़े बूढ़े पुरुष उन का पुराण सुन रहे थे। इस बीच अन्होंने कथा कहते कहते कहा कि 'सीता राम के साथ बन में गयी, यह उस की बड़ी भूल थी। वह यदि अयोध्या में ही आराम से रहती तो रावण उसे भला क्यों हरण कर ले जाता ?' उन के ऐसा कहने पर भी सब स्त्रियाँ ने सर हिलाये।

मुझे उस कथाकार पर बड़ा क्रोध आया।

● ● ●

बम्बई के अनुभवों ने मेरी आँखें अच्छी तरह खोल दीं। देव, धर्म, नीति आदि के नाम हम औरतें न जाने कितनी निरर्थक बातों से अंधश्रद्धा के कारण नाहक चिपटी रहती हैं। सच्चा देव, सच्चा धर्म, सच्ची नीति, अंक ही बात में है, और वह सब लोगों को सुखी करने में, सभी लोगों के दुःख हरने में।

पास के थोड़े पैसों से मैं किसी तरह दिन गुज़ार रही थी। चार छः दिन में पेट के लिये कुछ न कुछ काम करना ही पड़ेगा यह निश्चित बात थी — अतः कोई काम न होने से मेरा मन बड़ा घबड़ा गया था।

● ● ●

अस फेरीवाले को देख कर मैं तो वाकअनी चकित रह गयी। वह वही लड़का था, सिर्फ़ एक बार के अन्न के बदले मुझे मठ से मुक्त करानेवाला।

‘कहाँ ठहरी हो?’ उसने पूछा।

‘बम्बयी में!’ मैंने हँसकर उत्तर दिया।

तब मैं अकेली ही भटक रही हूँ, यह समझ कर वह मुझे बड़े आग्रह से अपने घर ले गया। वहाँ एक गंदी और तंग कोठरी में एक युवा लड़की एक गंदे बिस्तरे पर बीमार पड़ी थी।

मैंने पूछा, ‘यह कौन है?’

वह बोला, ‘मेरी बहन!’

‘मैं जैसी तुम्हारी माँ वैसी ही यह बहन! है न?’ मैंने कहा तो वह हँसा।

‘अिसे क्या हुआ है?’

‘यह एक मोटर के आगे गिर कर जान दे रही थी कि मैंने चट से पीछे खींच लिया। पर उसका धक्का लगने से बुखार आ गया। बड़े डॉक्टर को दिखाने के लिये पैसे नहीं, और अस्पताल में जाने को यह तैयार नहीं। बीच में कभी कभी होश आता है तो कहती है, ‘मुझे मार डालो!’

मैंने आँखें पोंछकर दूसरी ओर देखा तो अशोक का फोटो दिखायी दिया। मैंने पूछा, ‘यह कहाँ से आया?’

वह बोला, ‘यह अिस तारा के पास था, अिस के कहने से मैंने अिस पर फ़ेम लगवा दी है।’

तो क्या, यह तारा है? उस आश्रम की लड़की?

● ● ●

अब तारा की मदद कैसे की जाय ? मैं इसी विचार में मशगूल थी । क्या, मिल का काम मुझ से हो सकेगा ? तो और किया भी क्या जाय ? रास्ते से अेक भिखारी गाता हुआ जा रहा था, लोग उसे पैसा-पाखी दे देते थे । यकायक मेरे मन में खयाल आया कि मैं भी गाना जानती हूँ, यह मैं तो भूल ही गयी थी !

तब मैं दोपहर को मालदारों को-सी अेक बस्ती में पहुँची । वहाँ जाकर अेक बँगले के सामने खड़ी होकर गाने लगी । अितने में अेक नौकर गरम होकर बाहर निकला और बोला, ' अे माँगनेवाली ! इस वक्त आराम में खलल मत डाल । अैसा गाना सुनाना हो तो कहीं मजदूरों के मुहल्ले में जा । अैसा गाना यहाँ न चलेगा ! बड़े आदमी कैसा गाना सुनना चाहते हैं, यह देखना हो तो रात के नौ बजे यहाँ आना ! तब तू सब कुछ समझ सकेगी । '

और रात के नौ बजे सचमुच मैं वहाँ पहुँची भी ! दूर खड़ी देखने लगी तो गाना भी सुनाखी दे रहा था, और बीच बीच में खिड़की में से अंदर की लीलाअें भी दीखती थीं ।

अुस गानेवाली औरत की आवाज़ कुछ मुझ से मीठी न थी । पर अुस की पोशाक, अुस के हावभाव, वह गा रहा थी अुस गाने का अर्थ, ये सब देख सुन कर मेरा मन कितना विषण्ण बन गया ! क्यों कि वह स्त्री बेश्या बन गयी थी, अतः अुसे पानी की तरह पैसा मिल रहा था ।

तो क्या, किसी भी प्रकार अपने आपको बिना बेचे इस जगत् में स्त्री जीवित ही नहीं रह सकती ?

● ● ●

१८

अ शो क

माँ बम्बई गयी होगी, यह खयाल पहले ही मेरे मन में आया था, परंतु उस की मौसी का पत्र आया कि वह यहाँ नहीं आयी। इस कारण हम लोगों ने उस ओर की खोज खबर ही छोड़ दी।

किंतु जैसे जैसे एक एक दिन गुज़रने लगा, वैसे वैसे हम लोगों की निराशा बढ़ती ही जाती थी। पिताजी को तो जैसे हाय ही खा गयी। प्रेमा के 'जीजी कब आयेगी !' इस सवाल का जवाब देने में पुष्पा की आँखें भर आतीं और मैं तो पीठ फेर कर बात ही बदल देता था।

बातों ही बातों में चंदू ने बताया कि माँ बीच में एक दिन बम्बई की पूछताछ कर रही थी। सोचा, तब उस के मन में कहीं न कहीं जाने का बात अवश्य घुल रही होगी ! उस ने व्यर्थ ही पूछताछ थोड़े ही की होगी ?

● ● ●

शीघ्र ही हम सब बम्बई आ गये। पुष्पा, मैं और प्रभाकर तीनों ने यहाँ माँ को खोजने में हद ही कर दी।

अखबारों में विज्ञापन दिये, शहर की दक्षिणी बस्ती के सभी जीने चढ़

अुतर डाले । रेल ट्रामों को खूब बारीक नज़र से देखते । जो कुछ भी संभव था, वह सभी किया । माँ की जैसी ही कोअी और औरत नज़र पड़ने पर कभी कभी धोखा भी खाते । पर माँ का पता कहीं न लगा । अब बुरी बुरी कल्पनाओं मन में आने लगीं ।



परंतु अस खोज में माँ नहीं तो भी बहुत-सी बातें मुझे देखने समझने को मिलीं । परेल में मज़दूरों की बस्ती में, मैं घर घर भटका, अस लिये सहज ही अुन की रहन-सहन सामने आयी । वहाँ मैंने देखा किस प्रकार मनुष्य जैसे मनुष्य, जानवरों की-सी ज़िंदगी बिता रहे हैं । न सिर्फ़ जानवरों की तरह रखाये जाते हैं, बल्कि अुन के साथ बर्ताव भी जानवरों का-सा ही होता है । यह सब देख कर मेरे शरीर में रोमांच हो गया । मैं भला अबतक अिन लाखों लोगों का दुख भिटाने के बजाय कॉलेज में किताबी चर्चा, और आश्रम में महज़ पचीस अनाथ लड़कियाँ सँभाले बैठा था । अतः कॉलेज से राजीनामा देने का अब मुझे असली आनंद हुआ । मैंने सोचा, मात्र स्त्री-जाति ही नहीं बल्कि अधिकांश मानव-जाति ही आज गुलामी में पिसी जा रही है और अस गुलामी को नेस्त-नाबूद करना ही आज के आदर्शवादियों का प्रथम धर्म है ।

कोअी भी कार्य करने के लिये मनुष्य को अपने ध्येय के पीछे पागल बन जाना चाहिये । पर वह पागलपन युग को शोभनेवाला, मानवता की प्रगति में मददगार होना चाहिये । अुस में समाज को अधिक सुखी करने की सामर्थ्य होनी चाहिये । नहीं तो कोरे पागलपन की कोअी कीमत नहीं ।



अब मेरे विचारों को अेक नया मोड़ मिल गया था, मुझे पूजा के लिये अपेक्षित मूर्ति मिल गयी थी । परंतु माँ अभी न मिल सकी थी —

पिताजी भी प्रेमा जितने ही अधीर हो गये थे । हर रोज़ शाम को जब हम निराश लौटते तो अुनकी आँखों से आँखें भिलाने का साहस हम में से किसी को नहीं होता था । पिताजी की जब यह हालत थी, तो

प्रेमा तो बिचारी बच्ची ही ठहरी । मुझे भय हुआ कि जीजी की धुन में कहीं वे पागल न बन जायँ ।

केवल भय ही नहीं हुआ, बल्कि विश्वास भी हो गया, जब कि वह नीचे मैनेजर के रूम से 'जीजी गाती है, जीजी गाती है' कहती भागती हुआ ऊपर आयी — तब मुझे, पुष्पा, पिताजी, प्रभाकर सभी को लगा कि वास्तव में यह लड़की पागल हो गयी ! किंतु वह हम लोगों को खींचते खींचते नीचे रेडिओ के पास ले जा कर ही मानी । रेडिओ पर प्रेमा को प्रिय गाना चल रहा था —

‘ धाँव पाव नंदलाल बोल गोड बोला *’

अंत रींचा हा छकुल्या शांतवी अन्हाळा !’

वास्तव में वह माँ ही गा रही थी । कृष्ण जब मथुरा चले गये, तब यशोदा को जो दुख हुआ उसी का उस गाने में चित्रण था । और उस की गाते गाते 'कृष्णा — कृष्णा' यह मुकार तो बिल्कुल 'प्रेमा — प्रेमा' जैसी ही प्रतीत होती थी ।

रेडिओ स्टेशन की ओर जाते जाते पिताजी ड्राइवर से कह रहे थे, 'अरे भाभी, तुम गाड़ी अितनी धीमी क्यों चलाते हो ?'

वहाँ माँ बाहर आते ही अेक ओर से प्रेमाने तथा दूसरी ओर से पुष्पाने उसे बाहों में भर लिया । तब पिताजी अत्यंत अुल्लास से बोले, 'अरे वाह ! अिसे हमारे हाथ क्या लगने ही न दोगे ? बाकी हमें और क्या चाहिये ? खेलने को नन्हा-मुन्ना मिले तो सब भर पाया !'

अिसपर माँ आश्चर्य से देखने लगी तो पिताजी बोले, 'अरी, तुम हो कहाँ ? अगले साल दादी बन जाओगी ?'

अिस पर पुष्पा की ओर देखकर माँ दिल से हँसी ।

आखिर देहरे से बाहर निकली देवी देवी ही रही थी ।



* ' धाव पाँहि नंदलाल मधुर बोल बोलो

मन की ये जलन हरो, अमृतरस घोलो । '

दो शब्द

१

‘सूना मंदिर’ विशेष रूप से मध्यवर्गियों के बदलते जीवन को चित्रित करने वाला उपन्यास है। अशिक रूप में इसका स्वरूप पारिवारिक और अंशिक रूप में सामाजिक है। इसे* मैंने सन् १९३९ में लिखा। अंग्रेजी हुकूमत के साथ ही साथ अंग्रेजी विद्या, विज्ञान तथा जीवनविषयक नयी मान्यताओं ने भारतीय जीवन में प्रवेश किया। शताब्दियों के पुराने दायरे का त्याग कर भारतीय समाज-जीवन का शकट अन्य मार्ग से चलने की चेष्टा करने लगा। पारलौकिक आकाक्षाओं का स्थान ऐहिक आदर्शों ने ले लिया। वेदांतो के ग्रंथों में आबद्ध सामाजिक समता समाज-जीवन को छूने की कोशिश करने लगी; और, नारी न तो दासी है, न वह देवी है; बल्कि वह भी हम-सी ही एक मानव है और उस का भी व्यक्तित्व विकासशील है। इस बात की अनुभूति पुरुषों में नये से ही होने लगी।

सन् १९०० तक यह और इस तरह की और भी कहीं जीवन-विषयक नयी मान्यताओं में से अधिकांश वायुमंडल में ही तैर रही थीं। यह बात नहीं कि अिन कल्पनाओं को प्रत्यक्ष रूप में कार्यान्वित करनेवाले

~~~~~  
\* मराठी में ‘रिकामा देव्हारा’ इस नाम से।

एक भी महापुरुष या स्त्री का निर्माण ही नहीं हुआ था। मतलब यह कि जन साधारण ने अिन सिद्धान्तों को आम तौर से स्वीकार नहीं किया था। ऐसा होना भी स्वाभाविक ही था। समाज जितना प्राचीन अुतनी ही अुस की गतिशीलता भी कम होती है। कोअी भी नयी बात बालक झट्से आत्मसात् कर सकता है; पर अुसी बात को, अुसी मात्रा में, तुरंत आत्मसात् करना वयस्क व्यक्ति के लिये संभव नहीं है। यह अनुभूति जिस तरह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में पायी जाती है, अुसी तरह वह समाज-जीवन में पायी जाती है। नयी शिक्षा-प्रणाली, अनेक-विध ज्ञान-विज्ञान और पाश्चिमात्य साहित्य के प्रभावी संस्कारों की प्रतिक्रिया के रूप में जल्द ही मध्यवर्ग में नयी मानसिक क्रांति का निर्माण हुआ। नवीन विचारों के बीज बुद्धि और अंतःकरण की जड़ें तक जा पहुँचे। वहाँ पर अुन में कौपलें फूटने लगीं और आचार के रूप में वही कौपलें प्रकट रूप धारण करने लगीं।

सन् १९२५ के युग का यही स्वरूप था। सामाजिक सुधार के नाम से पहचाने जानेवाली कअी बातों को अिस कालखंडमें मध्यवर्ग ने अपनाया। फलस्वरूप, अिस के अनन्तर के कुछ ही वर्षों में कअी पारिवारिक अेवं सामाजिक संघर्ष स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगे; और दो पीढ़ियों की जीवन की मान्यताओं तथा श्रद्धा में प्रतीत होनेवाला अन्तर उत्तरोत्तर सुस्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होने लगा। सामाजिक परिवर्तन की अिस पार्श्वभूमि को दृष्टिगत रखते हुआ अिस अुपन्यास को पढ़ने पर अुस में वर्णित — बाह्यतः सूक्ष्म लेकिन अंतरंग की दृष्टि से विस्फोटक — कअी प्रसंगों, संघर्षों और समस्याओं का हल सुगमता से मिल जायगा।

२

अिस अुपन्यास में दो नायक हैं — दासोपंत और अशोक। अिन दोनों के प्रति लेखक के दिल में प्रेम है। दोनों भी सहृदय हैं, सजन हैं। अुन के अपने श्रद्धास्थान और जीवनविषयक मान्यताओं संपूर्णतः विभिन्न होने के कारण पितापुत्र का संबंध होने पर भी वे दोनों अेक दूसरे के विरोधक के रूप में अिस अुपन्यास में दिखायी देते हैं। दासोपंत अपनी अुम्र से काफ़ी छोटी सशीला के साथ ब्याह करता है; लेकिन कुछ पहले के ज़माने के अैसे

विवाहो में जिस बाजारू वृत्ति का प्रदर्शन हुआ करता था, उस से वह सर्वथा अलित है। साथ ही, वह वत्सलता की भूल के कारण संपूर्णतः अतृप्त अक बदनसीब, वयस्क व्यक्ति है। और उस भूल की वृत्ति के लिये विवाह के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग अपलब्ध न होने के कारण उसी मार्ग की वह शरण लेता है। वह सिर्फ कामुक या कठोर-हृदय व्यक्ति नहीं है। उस की प्रामाणिक धारणा है कि इस विषम विवाह में सुशीला पर उसने किसी तरह की ज़बर्दस्ती नहीं की है। वस्तुतः ऐसा मानना दासोपंत की कोरी आत्मवंचना है! लेकिन इस तरह की आत्मवंचना मानवीय मनोवृत्ति का एक अविभाज्य अंग है। देशभक्तों से लेकर कलाकार तक, सभी के द्वारा इसी मानवी स्वभाव-विशेष का सर्वत्र और निरंतर प्रदर्शन हो रहा है; तब बेचारे दासोपंत को ही हम अपराधी साबित क्यों करें! दूसरों को दुख देकर प्राप्त होनेवाले सुख का हम पलभर भी उपभोग नहीं करेंगे इस सिद्धान्त का संपूर्ण रूप से पालन करना इस संसार में अत्यंत दुश्कर है, और इसी से, दासोपंत के चरित का एक पहलू सहानुभूति के लिये अपात्र तो दूसरा पहलू अत्यंत कष्ट प्रतीत होता है।

सुशीला एक दृष्टि से जाग्रत पर दूसरी दृष्टि से परंपरागत सामाजिक एवं पारिवारिक निष्ठाओं से आवद्ध नारी है! कभी बार हमें आभास होता है कि पुष्पा नयी पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करनेवाली युवति है; पर वास्तव में वह तो एक अलहद बाला है। उस के गिर्द का कल्पना रम्यता का कवच अब तक अटूट है। वह कवच पहले पहल चटक जाता है अशोक पर लगाये गये अल्जाम के कारण! वास्तव में यह प्रसंग पुष्पा के प्रेम की कसौटी है; पर दुर्भाग्य से इस कसौटी में वह असफल सिद्ध होती है! परंपरागत पुराने विचारों से आवद्ध पूर्वय देश की नारी, और नयी विचारधारा से प्रभावित पश्चिमी स्त्री — इन दोनों की सीमा रेखा के बीच खड़ी और जीवन के परस्पर विरोधी मापदंडों के कारण सकपकायी भारतीय नारी का मन उस के रूप में प्रकट हुआ है!

यद्यपि इस उपन्यास को लिखे बीस साल से ज्यादा अवधि हो चुकी है, तब भी, हमारे समाज की कभी पुष्पा अबतक उसी स्थान पर खड़ी भरी आँखों को दिखायी देती हैं।

३

‘सूना मंदिर’ लिखते समय रह रहकर अंक ही चिन्ह मेरी आँखों के सामने अविचल भाव से उपस्थित था। अंक सुविशाल और सुंदर देहरा फूलों से ढँक-सा गया है। हजारों हाथ — नर और नारियों के — उस देहरे पर पुष्प समर्पण करने के लिये अंक दूसरे से होड़ लगा रहे हैं। लेकिन अनु में से किसी को भी इस बात का तनिक ज्ञान नहीं है कि जिस की अर्चना के हेतु वे सब अंकत्रित हुए हैं, वह मूर्ति ही देहरे में नहीं है, उसे किसी ने देहरे से अुठाकर न जाने कब, बाहर फेंक दिया है। और अनु अंध-भक्तों को न इस बात का ज्ञान है कि उसी मूर्ति को अपने पैरों से रौंदते, कुचलते हुए वे सब पूजा के लिये अधीरता के साथ आगे बढ़ रहे हैं। हमारी असीम सहायभूति का केंद्र-बिंदु बनी इस उपन्यास की नायिका सुशीला से लेकर हमारी घृणा का विषय बने लुंगी बाबा तक कोअी भी पात्र लीजिये; उसके चरित्र-चित्रण में, समाज में होने वाली सूने देहरों की — सूने मंदिरों की — अर्चना की प्रतिछाया ही हमें दिखायी देगी।

४

इस उपन्यास में कालिज के प्रिन्सिपल जैसे कम महत्वपूर्ण पात्र की ओर भी दृष्टिपात करने पर दिखायी देगा कि अनु के भी चरित्र-चित्रण में यही वास्तविकता मैंने निर्दिष्ट की है। अशोक पर लगाया अभियोग संपूर्णतया सत्य है इस बात का विश्वास कर लेने के पहले ही प्रिन्सिपल जैसे स्वभावतः सज्जन, और गुरु एवं सहयोगी इस दोहरे रिश्ते से अशोक को चाहने वाले समाज के अंक प्रतिष्ठित व्यक्ति उस से त्यागपत्र की माँग करते हैं। प्रिन्सिपल के सामने तो बस अंक ही आदर्श है। ‘संस्था सर्वप्रथम है, संस्था सर्वोपरि है, संस्था जीवित रहनी चाहिये।’ कोअी भी ख्याति-प्राप्त संस्था किसी दशा में समाज का कोप भाजन नहीं बनना चाहती। फिर उसे — समाज को — प्रसन्न रखने के लिये कभी कभी सत्य से विमुख क्यों न होना पड़े या मानवता का गला क्यों न घोटना पड़े। संस्था को उस की कोअी परवाह नहीं। संकट कालीन अवसरों पर अपनाये जाने वाले दृष्टिकोन को मानवीय मूल्यों की कसौटी पर अच्छी

तरह कस कर ही अपनाना चाहिये। पैसा, प्रतिष्ठा, पांडित्य आदि व्यावहारिक मापदंड जीवन का निष्पन्न नहीं बन सकते, अिन बातों को प्रिन्सिपल साहब जैसे पंडित व्यक्ति आसानी से भूल जाते हैं। अिन्हीं प्रिन्सिपल साहब ने बी० ए० की कक्षा में 'अथेल्डो' पढ़ाते हुअे कअी बार छात्रों की आँखें आर्द्र कर दी होंगी। अेक दुर्जन व्यक्ति अेक हाथ रुमाल को बदल कर अेक साध्वी नारी के पतिव्रता धर्म के प्रति अुस के पति के दिल में किस तरह दारुण संदेह की सृष्टि करता है, अिस घटना का अतीव सहृदयता के साथ वर्णन करते हुअे अुन की वक्तृता परम सीमा को पहुँची हांगी; पर अशोक पर अिन्जाम लगाया जाते ही अुन की ज़बान को जैसे लकवा मार जाता है। मानो अपने बर्ताव के द्वारा वे यही दिखाना चाहते हैं कि पांडित्य सिर्फ अुक्ति के लिये होता है; कृति के लिये नहीं। प्रिन्सिपल महाशय पल भर भी यह नहीं सोचते कि जिस संस्था की पवित्रता की रक्षा के लिये, वे अशोक को संदिग्ध परिस्थिति का भी लाभ अुठाने नहीं देते अुस संस्था की पवित्रता क्या निरंतर वैसी ही रह सकती है? और क्या, पवित्रता का आडंबर फैलाने जैसा अुस संस्था का अंतरंग वास्तव में अुदात्त है? प्रतिष्ठित संस्थाओं का निर्माण आदर्शवादी महात्माओं का स्फूर्ति और अुन के महान् त्याग के कारण ही होता है अिस में कोअी 'संदेह' नहीं। पर जिस तरह अेक अेक पाअी सँजो कर बड़ी जायदाद बनानेवाले पिता के गुण, गुलछरें अुड़ाने वाले अुन के मुफ्तखोर पुत्र में नहीं पाये जाते, अुसी तरह किसी भी संस्था के संस्थापकों का आदर्शवाद अुस संस्था का संचालन करनेवाली अगली पीढ़ी के आचरण में पूर्ण रूप से नहीं अुतरता। संस्था का अुज्ज्वल आदर्शवाद अधिक-से अधिक अेक पीढ़ी तक ही टिका रहता है। भावी पीढ़ी में, अुस आदर्शवाद में अवश्य कुछ न कुछ परिवर्तन हो जाता है।

अिन संस्थाओं का स्वरूप बड़ी जायदाद वाले मंदिरों के समान हो जाता है। सार्वजनिक जीवन में अग्रीम स्थान में रहने वाली संस्थाओं का विगत तीम पीढ़ियों के आतिहास का यदि अध्ययन किया जाय तो पहली पीढ़ी के आदर्श की पताका तीसरी पीढ़ी के लिये लंगोट के अपुयोग में लायी गयी हमें दिखाअी देती है! राष्ट्र की अुन्नति करना हो तो नयी पीढ़ी

को सुसंस्कारों से युक्त करना होगा; इस आदर्श से प्रेरित होकर स्थापित की गयी शिक्षा संस्थाओं को आज क्लृप्त निर्माण करने वाले कारखानों का रूप प्राप्त हो चुका है। वनराज के स्वच्छंद विहार के लिये उपयुक्त वन-प्रदेश भेड़-बकरियाँ बाँधने के स्थान में बदल जाय इस से बढ़कर और दुर्भाग्य ही क्या हो सकता है ! अपनी इस दुर्बलता को छिपाने के लिये 'संस्था सर्वोपरि है। वह जीवित रहनी चाहिये !' यह नारा आगे चलकर बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकता है, इस बात को संस्थाओं के संचालक अच्छी तरह जानते हैं; लेकिन वे भूलते हैं कि किसी निर्जीव संस्था के चिरजीवन की अपेक्षा सजीव संस्था की अपमृत्यु कहीं श्रेष्ठ होती है। ऐसी मृत्यु चेतना की दिव्य ज्योति को अमर रखते हुअे, समाज को अन्नति की ओर अग्रसर होने का संदेश देती है। अपने प्रधान आदर्श से च्युत होने वाली और निरंतर एक ही दायरे में फँसी रहने वाली इन संस्थाओं में शीघ्र ही, स्वाभाविक रूप से, दो तरह के लोग प्रवेश कर लेते हैं। एक तो अवसर की ताक में रहने वाले और दूसरे स्वार्थलोलुप ! प्रजातंत्र की दुहायी देते हुअे ऐसे दांभिक व्यक्ति संस्थाओं के अनेगिने, आदर्श, निष्ठावान सेवकों को अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं। बिना अपना गिरोह बनाये डाकूओं का काम चल नहीं सकता और इस के विपरीत, तपस्वी को अकान्त ही में ध्यान लगाना अधिक पसंद आता है। इस नियम के अनुसार ऐसी संस्थाओं में स्वार्थलोलुप व्यक्तियों के दल का पलड़ा भारी हो जाता है और चंद सज्जन व्यक्ति संख्याधिक्य कम हो जाने के कारण इस गुट के द्वारा लीलया पराभूत हो जाते हैं। अुदाहरण स्वरूप, शिक्षाप्रसार के हेतु निकाली कोअी पाठशाला, समाजसेवा के हेतु खोला गया आश्रम, राष्ट्रीय जागृति के लिये निकाला गया समाचार-पत्र — किसी भी संस्था को लीजिये। उसका अुल्का के समान तेजस्वी प्रारंभिक आविष्कार समाप्त हो चुका कि अुसे पाषाण में बदलते देरी नहीं लगती। लेकिन, अशोक से प्रेम रखने वाले अुसके वयोवृद्ध तथा ज्ञानवृद्ध प्रिन्सिपल साहब इस कटु सत्य से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। पत्थर की पूजा करने वाले अपढ़, वन्य मनुष्य के भीरु भाक्ति-भाव को मूर्तिपूजक की श्रद्धा मानना गलत होगा। वह तो जिसने जीवन में सत्य, सौंदर्य एवं मांगल्य का साक्षात्कार किया है ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति की भावना का स्वाभाविक

आविष्कार है, असे यदि प्रिन्सिपल साहब जानते तो क्षणार्ध में वे मूर्तिपूजक से मूर्तिभंजक बन जाते और फटे जीर्ण वस्त्रों का जिस तरह हम त्याग कर देते हैं, उसी तरह जीर्ण, निरुपयोगी संस्था का त्याग करना ही समाज की भलाही की दृष्टि से अधिक श्रेयस्कर है, अिस बात की यथार्थता का स्वीकार करते ! लेकिन आज की दुनिया में ऐसी घटनाओं नहीं घटतीं । हमारे समाज में ऐसे तेजस्वी दृश्य प्रायः दिखायी नहीं देते । हम तो अब तक आगामी कल के देवता की अपेक्षा विगत कल के पत्थर पर ही पुष्प समर्पण करने में — उस की अर्चना करने में — अपने आप को कृतकृत्य मानते हैं !

५

संभव है कि उपन्यास पढ़ने वाले आजकल के पाठकों की दृष्टि में तारा का महत्त्व कथा-वस्तु की मध्यवर्ति घटना के विकास में सहायक अेक सूत्र, अिस से अधिक नहीं हो सकता । लेकिन मेरी आँखों के सामने जो ताश खड़ी थी, उस की आँखों से टुलकने वाले आँसुओं की अेक अेक बूँद से अुत्पीडित नारी-जाति की मूक व्यथाओं के अनंत विश्व में देख रहा था !

अेक अभागिनी, अनाथ, अबला के रूप में तारा आश्रम में आती है । वहाँ उसे अशोक दिखायी देता है — उस का भगवान ही उसे दिखायी देता है । अब तक स्त्री की ओर, अुपभोग योग्य सुंदर पुतली के दृष्टि से देखने वाले कभी पुरुषों से वह अच्छी तरह परिचित थी । लेकिन नारी को सच्चे दिल से देवी मानने वाला तो अशोक ही पुष्पा के जीवन में पहला पुरुष है । अिसी से उस के दिल में अशोक के प्रति अुत्कट भक्तिभाव अुत्पन्न होता है । यह भक्ति अेक अतृप्त युवा मन की भक्ति होने के कारण अनजाने ही यदि वह प्यार के रूप में प्रकट हो जाय तो हमें विस्मित नहीं होना चाहिये । तारा अिस बात से अनभिज्ञ नहीं थी कि अिस जीवन में अशोक का अधिकारपूर्ण सहवास वह प्राप्त नहीं कर सकती । तब भी, आत्मीयता के अभाव में छटपटाने वाले और प्यार के स्पर्श तक से वंचित रह जाने वाले उस के अतृप्त मन को यह विचार कब तक वश में रख सकता था ? प्रेम के कराल पंथ पर फैले काँटे कँकड़ हमारी आँखों को दिखायी

नहीं देते और इसी से कहते हैं कि प्रेम अंधा होता है ! सिर्फ आत्मिक संतोष के लिये और कभी न भेजने के लिये तारा अशोक के नाम प्रेम-पत्र लिखती है। शुरू शुरू में वह नहीं चाहती कि उन प्रेम-पत्रों को अशोक कभी देखे। खेल में गुड्डागुड़िया का ब्याह रचाते हुअे अनजान बालक जिस तरह यथार्थ के विवाह समारोह जैसे उस में लीन हो जाते हैं, वैसी ही, तारा की आत्मवृत्ति की यह बालिश पर काव्यमय कृति है। संभव है कि अशोक से, दूर ही से क्यों न हो, प्यार करते हुअे पुराणों में वर्णित कुब्जा की कहानी का उसे विस्मरण हो गया हो। पर क्या, उस कुरूप प्रणयिनी का श्रीकृष्ण के प्रति राधा और रुक्मिणी अतना ही उत्कट प्रेम नहीं था ?

लेकिन, वैवाहिक पवित्रता की अर्चना का अहर्निश आडंबर फैलाने वाला समाज ऐसे निष्पाप परंतु लोकविलक्षण प्रेम की ओर प्रायः सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देखता। वह तो ऐसे प्रेम की महापातकों में गणना करता है ! प्रेम करना यौवन का जन्मसिद्ध अधिकार है इस बात का ज्ञानवयस्क समाज-पुरुष को यदा कदा ही होता है। आश्रम जैसी संस्थाओं का संचालन करने वाले सज्जनों की प्रायः यही धारणा होती है कि वहाँ आश्रय के लिये आने वाली लड़कियाँ दिनरात शोकसूचक चेहरे से रहे और अुदरभरण की कोअी विद्या या कला प्राप्त करने के अतिरिक्त किसी विषय का विचार तक अपने मन में आने न दे। इसमें संदेह नहीं कि अिन में से थोड़े लोग कुछ अंश में भूत-दया से प्रेरित पाये जाते हैं। लेकिन दया का अर्थ न्याय तो नहीं होता ! दया स्वाभाविक रूप से ही दुर्बल होती है और न्याय में निरंतर वीरवृत्ति पायी जाती है। दया को समाज के सभी सकेत — वे कितने क्यों न मूर्खता पूर्ण या राक्षसी हों — स्वीकार करने पड़ते हैं; लेकिन, दलित-दुर्बलों का बलिदान चाहने वाली अघोर शक्ति के विरुद्ध हथियार उठाना यही न्याय का जीवन-हेतु है !

तारा के मन में, अेकान्त में, अशोक के बारे में अुठने वाले विचारों का परिस्फोट करने वाला अेक पत्र चितोपंत के षड्यंत्र से कालिज की कार्यकारिणी समिती के सामने प्रस्तुत किया जाता है। दुनिया तो यही मानती है कि अैसी संस्थाओं की कार्यकारिणी समितियों में समाज के संपन्न अेवं सुबुद्ध व्यक्ति ही ज्यादा पाये जाते हैं। पर अिन्हीं बुद्धिमानों में

से अेक भी महाभाग तारा की ओर सहानुभूति की दृष्टि से नहीं देख सकता । तारा के अुस पत्र को अुस के व्यभिचार का ज्वलन्त प्रमाण मान कर वे सभी नीतिज्ञ अुस पर और अशोक पर भी आग बरसाते हैं ! प्रोफेसर के नाते अुन में से कभीओं का मनोविज्ञान से निकट परिचय होगा, डॉक्टर होने की वजह से अुन से कभीओंने स्त्री-जीवन का सूक्ष्म अध्ययन किया होगा । 'मेघदूत' से लेकर १९५६ तक के प्रेमकाव्यों का सरस अंश अुन में से कभीओं को कंठस्थ हो गया होगा; लेकिन तारा और अशोक को क्षणार्ध में अपराधी सिद्ध करते हुअे वही अुन की रसिकता, अुन का ज्ञान, अनुभव, ये सभी सहसा न जाने कहाँ विलुप्त हो जाते हैं ! यही तो अवनत समाज का दुर्भाग्य है । अुस की बुद्धि और भावना अिन दोनों के बीच अेक गगनचुंबी दीवार खड़ी हो जाती है । अुस के फलस्वरूप वह किसी भी विषय पर पांडित्यपूर्ण वादविवाद तो सुगमता से कर सकता है पर अुसके अनुसार आचरण करने की सामर्थ्य वह प्रकट नहीं कर सकता ।

६

बाह्यतः अैसा समाज सुसंस्कृत प्रतीत होता है पर जीवित संस्कृति के लक्षणों का — जिन्हें अपनाते से समाज का निम्नस्तर तक सुखी हो सके अैसे अुपायों का अवलंबन करना — समाज के अिन नेताओं में अभाव ही पाया जाता है । अैसे अवसर पर गीता के 'ततो युद्धाय युज्यस्व' अिन तीन शब्दों पर ठीक तीन घंटे सुंदर प्रवचन सुनाने के बाद सहसा सभा-भवन में साँप निकलने के कारण श्रोताओं में कुछ खलबली मच जाने से, सबसे पहले भाग निकलने वाले किसी पांडित का मुझे स्मरण हो आता है ! हमारा गांधीवाद, हमारा समाजवाद, हमारा स्वातंत्र्यप्रेम, हमारा सामाजिक सुधार-प्रेम, भारतीय संस्कृति के प्रति हमारा अभिमान, क्रांतिगीतों का जयगान किसी को भी लीजिये, पांडित्य के प्रदर्शन को ही हम अुसका निकष मानते हैं । अनुभूति या विचार के प्रदर्शन को कदाचित् ही प्राधान्य दिया जाता है और अिसी से बीस बीस सदियों की, जंग चढ़ी, अनेकविध शृंखलाओं हमारे पैरों में अब भी झनझना रही हैं ।

जिस समाज की दशा अर्धांगवायु से पीड़ित रोगी की-सी हो जाती है, वह क्रांति के पथ पर कैसे अग्रसर हो सकता है ? उस क्रांति के स्वरूप से हमें कोअी मतलब नहीं । ऐहिक सुख को ही जन-साधारण के जीवन का मुख्य आदर्श मान कर हम किसी विषय की गहराअी तक पहुँचना ही नहीं चाहते । परमात्मा और परलोक अिनके अस्तित्व पर आधारित जीर्णात्मा नीति-कल्पनाओं की मृग मरीचिका के पीछे दौड़ने में ही हमारे सामाजिक मन को अब तक संतोष प्राप्त होता है ! सामाजिक सुख मानव का साध्य है । सद्गुणों का संवर्धन उस आदर्श का अेक साधन मात्र है । पर साध्य साधन की अिस गड़बड़ी में हिंदु-समाज ने विगत दो सहस्र साल में करौड़ों नर-नारियों पर अनन्वित अत्याचार किये हैं । जन-साधारण के जीवन की समस्या मोक्ष की प्राप्ति कैसे हो यह नहीं है । वह तो सुख की प्राप्ति के लिये ळालायित है । जनता के जीवन के गिर्द नीति, या आतंक की कृत्रिम दीवारों का निर्माण कर अुसे जीवन के सुखों से वंचित कर देने वाला समाज — यह कार्य वह किसी सद्देहत्तु से प्रेरित हो कर या अन्य किसी आकर्षक नाम की ओट में क्यों न करता हो, कदापि समाज कहलाने के योग्य नहीं है ।

७

स्वाधीनता प्राप्ति के अनन्तर भारतीय जनता अपने अुस्थान के लिये प्रयत्नशील है । सोचता हूँ कि अिस अुपन्यास के — सुशीला, अशोक, पुष्पा, तारा आदि — पात्रों को वर्तमान युग की पार्श्वभूमि पर चित्रित कर, मध्यवर्ग की समस्याओं को नये रूप में पाठकों के सम्मुख अुपस्थित करूँ । यदि मेरे अिस संकल्प की पूर्ति हो सकी तो पाठकों को मैं आसानी से बता सकूँगा कि विगत बीस वर्षों में हमारे समाज ने क्या क्या पाया है और क्या क्या खो दिया !

२०-९-५६

वि. स. खांडेकर













